

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१५८

७७११६०

96257

श्रीईश्वरकृष्णविरचिता

गौडपादभाष्यसहिता

सांख्यकारिका

‘भाष्यभाववर्णिनी’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः

न्यायाचार्य-पोद्दाचार्य-

पं० श्रीज्वालाप्रसाद गौड़

वाराणसीस्थ-श्रीसंन्यासि-संस्कृत-महाविद्यालयप्राध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्यामवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

ब्लॉक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स न० १०६९,

वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मवाधकार सुरक्षित

पंचम संस्करण १९८०

मूल्य १५-००

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू ए, जवाहरनगर, बंगलो रोड,

पो० बा० न० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरध्वनि : २३६३९१

अन्य प्रातिष्ठान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स न० ११२९

वाराणसी-२२१००१

दूरभाष ५७२१४

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
158
ॐ

SĀMĀKHYAKĀRIKĀ

OF
ĪSWARAKRŚNĀ
Containing
GAUDAPĀDABHĀŚYA



Edited with
'Bhashyabhavavarnini' Sanskrit & Hindi Commentaries

By
Pt. Jwālā Prasad Gaud

Ex Professor, Sanyasi Sanskrit Mahavidyalaya, Varanasi



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No 1069
VARANASI 221001
Telephone 63076



1990 Edition

Also can be had of

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38, U.A. Bungalow Road Jawaharnagar

Post Box No 2113

DELHI 110007

Telephone - 236391

*

Also can be had of

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

(Oriental Booksellers & Publishers)

K. 37/117 Gopal Mandir Lane

Post Box No 1129

VARANASI 221001

Telephone 57214

भूमिका

प्रारंभ से ही दर्शन दो धाराओं में विभाजित हुए देखने में आ रहे हैं। जिनमें एक भारतीय दर्शन-धारा है और दूसरी पाश्चात्य दर्शन-धारा है। भारतीय दर्शन-धारा भी दो धाराओं में विभाजित है, आस्तिक दर्शन-धारा तथा नास्तिक दर्शन-धारा। इनमें छः आस्तिक दर्शन हैं और छः ही नास्तिक दर्शन हैं। "नास्तिको वेदमिन्दकः" अर्थात् वेदोक्तमार्ग का समर्थन करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। और जो दर्शन वेदोक्त परलोक एवं ईश्वर आदि का खण्डन करने वाले हैं, उन्हें नास्तिक दर्शन कहते हैं। कहा भी है—

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।

नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः॥

न्याय-वैशेषिक-वेदान्त-मीमांसा-शांख्य और योग ये छः आस्तिक दर्शन हैं। और जैन-चार्वाक-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक तथा वैशेषिक ये छः नास्तिक दर्शन हैं। इसके अतिरिक्त माध्व-रामानुज-निम्बार्क-वल्लभ-श्रीवाग्म एवं पूर्णप्रज्ञ आदि दर्शनों का इन्हीं दर्शनों में अन्तर्भाव हो जाता है।

दर्शन शब्दार्थ

"दृश्यते=ज्ञायते=विचार्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय अर्थात् सद-असद् वस्तु का विचार किया जाय उसे दर्शन कहते हैं। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का अर्थ=प्रयोजन माना गया है। यह दृश्यमान चराचर विश्व सत्य है कि मिथ्या है, जड़ है कि चेतन है, प्रकाश है कि अन्धकार है, सुख-दुःख आदि के द्वन्द्व से रहित है अथवा सहित है, आधि-व्याधि-जरा और मरण की भीषण कथा की व्याप्ति से सम्बन्धित है अथवा निरन्वित है, इत्यादि विषयों का विचार भी दर्शनशब्दार्थ के अन्तर्गत ही माना गया है। संसार क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह नित्य अथवा अनित्य है? संसार के अन्दर रहकर सुन्दर एवं सुखपूर्वक जीवन बिताने का क्या साधन है? इत्यादि समस्त विषय भी दर्शनशास्त्रगम्य ही हैं।

दशन भी एक शास्त्र है। जैसे व्याकरण साहित्य एवं ज्योतिष आदि स्वतन्त्र शास्त्र हैं, उसी प्रकार दशन को शास्त्र की मज्ञा प्रदान की गयी है—

शासनान् शमनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते ।

यहाँ पर 'शाम्' धातु का अर्थ आदेश प्रदान करना, आज्ञा देना आदि माना गया है। और 'शम' धातु का अर्थ विचार करना, निरूपण करना, प्रतिपादन करना आदि माना गया है। यह 'शामन' शास्त्र भी विधि-निषेधात्मक दो प्रकार का होता है। "म्वर्गकामो यजेत" यह विधिशास्त्र है। और "न कलञ्ज भक्षयेत्" निषेधशास्त्र है। एवं "अग्निषोमोय पशुमासभेत" यह विधिशास्त्र है, "मा हिम्यात् मवभूतानि" यह निषेधशास्त्र है। दशन भी शास्त्र है, इसी दृष्टिकोण के आधार पर कुछ विद्वानों ने व्याकरण एवं साहित्य आदि शास्त्रों को भी 'दर्शन' की मज्ञा प्रदान की है। जैसे—न्यायदर्शन भीमामादशन मान्यदर्शन आदि दशनों को दशन मज्ञा प्रदान की गयी है और वह स्वाभाविक है। दशन इस चरावर दृश्यमान मिथ्याजगत् के अन्दर सत्य की खोज करना है एवं इस मिथ्या जगत् के आधारभूत उस वास्तविक तत्त्व का पता लगाता है। अनेक में एक का असद् में सत् का अन्वेषण करता है। इस दृष्ट्यादृश्य जगत् के अन्तर्गामी परमतत्त्व ईश्वर का अनुमानान करता है।

सात्त्वदर्शन

मान्यदर्शन समस्त भारतीय दशनों में एक अत्यन्त ही प्राचीन दशन है। इस दशन के जन्मदाता महामुनि कपिल हैं। सख्या के प्राधान्य के आधार पर ही इस दर्शन को सात्त्वदर्शन की मज्ञा प्रदान की गयी है। सख्या नाम दो का है—

(१) एक-व द्वित्व-त्रित्व-बहुत्व आदि के व्यवहार के कारणोभूत गुणविशेष को सख्या माना है, यह पक्ष तो सावजनीन है अर्थात् सभी लोग एक, दो, तीन, चार एवं बहुत आदि का व्यवहार करते हैं।

"एकत्वादिव्यवहारहेतु सख्या"

सख्या का दूसरा अर्थ अवयव नाम विवेकज्ञान भी है। यहाँ में दोनों ही अर्थ अवयव नाम संगत हैं। सात्त्वदर्शन में ही मवप्रथम पञ्चविंशति तत्त्वों का परिगणन किया गया है, वह पदार्थपरिगणन भी मोक्ष का प्रापक है और विवेकज्ञान भेदज्ञान का नाम है, वह प्रकृति और पुरुष का भेदाज्ञाननिबन्धन यह ससार

है। और जिस समय हम प्रकृति और पुरुष के विषय में भेद की जान लेते हैं कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है उस समय हमारे लिये संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। यह विवेकज्ञानरूप भेदज्ञान भी इसी की विशेषता है। कहा भी है—

एवं तत्त्वाभ्यासात्तास्मि न मे महमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार सांख्यशास्त्र के अन्दर निविष्ट पञ्चविंशति पदार्थतत्त्वों का तथा उनके अवान्तर भेदों का श्रद्धापूर्वक बराबर अभ्यास करते-करते संशय एवं भ्रम से शून्य होने के नाते विषुद्ध प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान=भेदज्ञान अर्थात् प्रत्यक्षात्मक कैवल्यज्ञान ही जाता है जिसमें जीव सांसारिकबन्धनों से सर्वदा के लिये छुटकारा प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान की प्रधानता के कारण इस दर्शन का नाम सांख्यदर्शन पड़ा।

सांख्यतत्त्वमीमांसा

इस सांख्यदर्शन के अन्दर पञ्चीस तत्त्वों का अङ्गीकार किया जाता है। और उनकी मीमांसा भी बड़े ही अच्छे ढंग से इस दर्शन के अन्दर की गयी है। इन्हीं पञ्चविंशति पदार्थों के ज्ञान से जीव आध्यात्मिक-आधिभौतिक तथा आधि-दैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा छुटकारा प्राप्त कर लेता है। सांख्य ने इन तीनों दुःखों के विनाश का कारण इसी विवेकज्ञान को अन्त में स्वीकार किया है। जैसे कि—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।

इससे तो केवल दुःखत्रय के विनाशकारणीभूत वस्तु में जिज्ञासा का प्रदर्शन बतलाया। वह दुःखत्रय से विनाश का कारण कौन है, इसका स्पष्टीकरण ईश्वर-कृष्ण ने आगे की कारिका में किया है—

“सद्विपरीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्”

इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (पुरुष) इनके भेदज्ञान से ही दुःखत्रय से छुटकारा प्राप्त होता है।

इन पञ्चीस प्रकार के पदार्थों का अन्तर्भाव ईश्वरकृष्ण ने केवल चार पदार्थों में ही कर दिया है। जैसे कहा भी है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्भूदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

पोडपस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

अर्थात् साक्ष्यदर्शन के अदर तात्त्विकदृष्टि से विचार करने पर सक्षेपन चार प्रकार के पदार्थ ही ठहर पाते हैं—

(१) सर्वप्रथम पदार्थ प्रकृति^१ ही है जो कि इस दृश्यमान जगत् का मूल कारण होने के नाते जनक है परन्तु जन्य नहीं है, वह नित्य है। साक्ष्य ने प्रकृति पुरुष और इन दोनों के संयोग को नित्य माना है। इस प्रकार साक्ष्य दर्शन के अन्दर ये तीन ही नित्य पदार्थ हैं।

(२) दूसरा पदार्थ “विकृति” है। विकृति नाम है कार्य का। विकृति-भूत पदार्थ का लक्षण है—“जन्यत्वे सति तत्त्वान्तरानारम्भकत्वम्” अर्थात् जो पदार्थ किसी से उत्पन्न होने वाला तो अवश्य हो परन्तु किसी भी दूसरे पदार्थ का उत्पादक न हो सकता हो। जैसे—साक्ष्यमतसिद्ध षोडशपदार्थ। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत, और एक मन।

(३) कोई पदार्थ प्रकृति-विकृति उभयरूप है। इसका लक्षण है—“जन्यत्वे सति जनकत्वम्” अर्थात् जो जन्य भी हो और जनक भी हो। जैसे पाँच तन्मात्राएँ महत्तत्त्व और अहङ्कारतत्त्व। ये किसी के तो जन्य हैं और किसी के जनक भी हैं।

(४) और चतुर्थ पदार्थ साक्ष्यदर्शन में विलक्षण ही है। जो न तो किसी से जन्य ही है और न किसी का जनक ही है, जैसे—पुरुष। साक्ष्य ने पुरुष (जीव) को पुष्करपलास के समान निर्लेप माना है।

साक्ष्यदर्शन की प्राचीनता

छ प्रकार के पूर्वोक्त आस्तिकदर्शनों में साक्ष्यदर्शन बहुत ही प्राचीन दर्शन है। इसी लिये सभी दर्शनों में इसका गौरव और महत्त्व माना जाता है। इसके मूलभूत सिद्धांत प्रायः उपनिषदों में पाये जाते हैं। साक्ष्यदर्शन ने कार्य और कारण की त्रिगुणात्मक स्वीकार किया है। साक्ष्यशास्त्रवेत्ता विद्वानों का कहना है कि हम ससार को अथवा ससार के समस्त पदार्थों को सुख-दुःख मोहरूप अर्थात् त्रिगुणात्मक पाते हैं इसलिये उनका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिये। इसीलिये उन्होंने प्रकृति को ही जगत् का कारण माना है, कारण कि वह सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण त्रिगुणात्मक है, पुरुष वैसे न होने से कारण

१ प्रकृति का लक्षण है अजन्यत्वे सति जनकत्वम् अर्थात् जो किसी का कार्य तो न हो परन्तु कारण अवश्य हो।

नहीं हो सका। छान्दोग्योपनिषद् में इन तीनों गुणों का वर्णन बहुत ही अच्छे ढंग से किया है। इसके अतिरिक्त गीता में भी इसका महत्त्व वर्णित है। बौद्धदर्शन के महाविद्वान् अश्वघोष ने स्व-रचित 'बुद्धिचरित' महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के गुरु को सांख्यशास्त्र का ज्ञाता बतलाया है। इतना ही नहीं, उन्होंने निष्पक्षभाव की दृष्टि से यह भी बतलाया कि सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल गौतम बुद्ध से भी प्राचीन थे। महाभारत के शान्तिपर्व में भी सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि का निरूपण ठीक सांख्यदर्शन की प्रक्रिया से सम्मत है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी सांख्यदर्शन के मूलभूतसिद्धान्त उपलब्ध हैं। श्रीमद्भागवत में भी जिस स्थल में महामुनि कपिल तथा देवहूति का संवाद आता है उस स्थल में सांख्य के पदार्थों का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है।

सांख्यदर्शन की प्राचीनता के विषय में अधिक क्या कहा जाय, पाश्चात्य दार्शनिक विद्वान् श्री याकौबी ने भी स्पष्ट कहा है कि सांख्यदर्शन की प्राचीनता अक्षुण्ण एवं निर्विवाद है। सांख्यदर्शन सब दर्शनों में प्राचीन है इसमें किसी को भी मतभेद खड़ा ही नहीं करना चाहिए, और न किसी भी प्रकार का संशय विपर्यय अथवा विपरीतोद्भाव ही करना चाहिये।

देखने से भी इसकी प्राचीनता स्पष्ट है कि उपनिषदों में, पुराणों में, स्मृतिग्रन्थों में, धर्मग्रन्थों में एवं बौद्धग्रन्थों में सर्वत्र ही सांख्यदर्शन की चर्चा एवं पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। बौद्धशागमों में भी सांख्यदर्शन के कार्यकारणभाव सत्कार्यवाद आदि बहुत से सिद्धान्तों के निराकरण करने की चेष्टा की गयी। अन्त में, उनका वह प्रयास सर्वथा असफल ही रहा। प्राचीन वस्तु का ही उत्तर-कालीन ग्रन्थों में, शास्त्रों में एवं आख्यायिकाओं में उल्लेख पाया जाता है। इससे इसकी प्राचीनता एवं महत्त्व तथा गौरव स्पष्ट है।

सत्कार्यवाद

कार्यकारणभाव एक सर्वसाधारण विषय है। कार्य को देखकर प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में इस प्रकार की विचारधारा उत्पन्न होती है कि इसका कोई कारण अवश्य ही होगा।

“अस्य अवश्यं किमपि कारणमस्ति इत्येतादृशानुभूतिबलात् सामान्यतः कारणस्य प्रतीतिर्भवति इदमेव अस्य कारणमिति रीत्या विशेषतः कारणं न प्रतीयते।”

इस कार्यकारणभाव के विषय में वादी भोगों को बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हैं। जैसे बौद्धविद्वानों का कहना है कि असत् कारण से सत्कार्य उत्पन्न होना है। अर्थात् जेत में जब बीज डाला, उसके बाद जब तक उस बीज का ध्वस नहीं हो जायगा तब तक उससे अकुरोत्पत्ति नहीं होती है, अतः बीज का ध्वस=अभाव ही अकुरोत्पत्ति में कारण है, स्वयं बीज नहीं। इसलिए दिनष्ट बीज अर्थात् असद् बीज ही अकुरोत्पत्ति करने में समर्थ हो सकता है। इससे स्पष्ट है, असत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वेदान्ती लोगोंने एक सद्ब्रह्म का दिव इस विश्व को माना है। जगत् का कारणीभूत ब्रह्म सत् है और उसका काय यह चराचर विश्व असत् है। इस प्रकार इनके मतानुसार सत् स असत् की उत्पत्ति होती है।

नैयायिक तथा वैशेषिकों का कहना है कि सत् कारण से ही असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। इनके यहाँ परमाणुओं को ही जगत् का कारण माना है। वे नित्य होने के कारण सत् हैं। और उनसे उत्पन्न होने वाले पृथिवी, जल आदि प्रलय में नष्ट हो जाने के नाते असत् हैं। इसलिये इनके यहाँ सत् से असत् की उत्पत्ति होती है यह कहिये, अथवा नित्य से अनित्य की उत्पत्ति होती है, यह भी विनिगमनाविरहप्रयुक्त कह सकते हैं। सांख्यी का कहना है कि कारण भी सत् है, और कार्य भी सत् है। सांख्यमत में भावार्थक नित्य प्रकृति ही जगत् का कारण मानी गयी है। और कार्य अनागत अवस्था से ही कारण के अन्दर पहिले से ही विद्यमान है। कारणसामग्री किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं करती है बल्कि वह सामग्री कार्य की अभिव्यक्ति करती है। उत्पत्ति से पहिले भी कार्य अपने कारण के अन्दर अव्यक्तरूप से विद्यमान है। इसलिए कार्य और कारण में वास्तव में अभेद है। कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम कारण है। तथा कारण की व्यवतावस्था का नाम कार्य है। अवस्थामात्र का भेद है, कार्य और कारण में भेद नहीं है। उन इसमें स्पष्ट सिद्ध है कि जब कारण नित्य होने के नाते सत् है तो उसमें अभिन्न काय को असत् कैसे कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त साम्यशास्त्रियों ने कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए पाँच हेतुओं वाले अनुमान का भी प्रदर्शन किया है। अर्थात् कारण के व्यापार से पहिले भी कार्य सत् है। इसी अनुमान को साम्यकारिका के रूप में दित-लाया है—

असदकरणानुपायानग्रहणात् सर्वमम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणान् कारणभावाच्च सत् कायम् ॥

अर्थात्—

(१) कार्यं मत् अमदकरणात् ।

(२) कार्यं मत् उपादानग्रहणात् ।

(३) कार्यं मत् सर्वमम्भवाभावात् ।

(४) कार्यं मत् शक्तस्य प्रत्ययकरणात् ।

(५) कार्यं मत् कारणभावात् (कारणात्मकत्वात्) ।

इनका विशेष विवेचन बाचस्पति की कौमुदी टीका में देखा जाय ।

सांख्यदर्शन की उपयोगिता

सांख्यदर्शन के विषय में कुछ चिद्धानों का ऐसा कहना है कि सांख्यदर्शन के साथ जब कि योगदर्शन की पूर्णरूप से एकवाक्यता है अर्थात् सांख्यदर्शन में उल्लिखित सभी पदार्थ योगदर्शन में उ्यों के र्यों स्वीकृत हैं तब फिर क्या आवश्यकता है सांख्यदर्शन की ? क्यों कि सांख्यदर्शन तो योगदर्शन से ही गतार्थ हो जाता है ।

इसके कई उत्तर दिये गये हैं जिनमें एक उत्तर यह भी है कि एकवाक्यता पदार्थों अथवा विषय की कुछ ही अंश में है, न कि सर्वांश में । इस प्रकार की एकवाक्यता तो कुछ अंश की लेकर सर्वत्र ही हो सकती है, तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह सर्वत्रा इतर से गतार्थ ही हो जायगा । और गतार्थ हो हो जाने से इनर की वैयर्थ्य की आपत्ति दे दी जाय, इत्यादि ।

सांख्य में पञ्चविंशतिपदार्थों के ज्ञान को ही एकमात्र मुक्ति-साधन बतलाया है और योगदर्शन में योगक्रियाग्रन्थज्ञान भीक्ष का साधन है ।

इस प्रकार सांख्यदर्शन के अन्दर ज्ञान की प्रधानता है और योगदर्शन के अन्दर क्रिया की प्रधानता है, इस प्रकार साधनों में भेद स्पष्ट है । दूसरी बात यह कि सांख्यदर्शन के अन्दर आत्मतत्त्व का विवेचन अवश्य है परन्तु वह आत्म-तत्त्व जीव है न कि ईश्वर । ईश्वर का तो सांख्य में उल्लेख ही नहीं मिलता है । इसी लिये यह दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन कहलाता है । ईश्वर को लेकर योग-दर्शन में पदार्थों की गणना छद्मीय हो जाती है और सांख्यदर्शन में वही पञ्चोस की पञ्चीय ही है । इसके अतिरिक्त दोनों दर्शनों में विषय का भी वैयर्थ्य है । योगदर्शन में सर्वप्रथम चित्त की वृत्ति के निरोध को योग बतलाते हुए उन्होंने

वृत्तिनिरोध के साधनों का आमूल उल्लेख किया है जो कि साध्यदर्शन में सर्वथा अनुपलब्ध है ।

कुछ दार्शनिकों ने साध्यदर्शन के विषय में अवैदिकत्व की आशंका की कि इसमें ईश्वर का निरूपण नहीं है इसलिये यह दर्शन भी निरीश्वरवादी दर्शन होने के नाते चार्वाक आदि दर्शनों के समान नास्तिक दर्शन है, अतः उन दर्शनों के समान यह भी अवैदिक दर्शन है, इत्यादि रूप से बहुत से आक्षेप विशेष इसके ऊपर किये गये ।

परन्तु इस प्रकार के आक्षेप सर्वथा निर्मूल होने के नाते सर्वथा भ्रांतिपूर्ण हैं । क्योंकि हमारे यहाँ नास्तिक की परिभाषा “नास्तिको वेदनिन्दक” इस रूप से वेद की निन्दा करने वाले को लक्ष्य बनाकर ही की गयी है । यह दर्शन न तो स्वयं वेदनिन्दक है और न इसका अध्ययन करने वाले ही वेदनिन्दक हैं । तब फिर इसे नास्तिकदर्शन कहना दूसरे लोगों की आँखों में धूल भोक्ना है । इस प्रकार धूल भोक्कर उन्हें भ्रमान्धकार में डालना है ।

दूसरी बात यह भी है कि इस साध्यदर्शन के आदि जन्मदाता महामुनि कपिल ने स्वयं वेदों के प्रामाण्य का अङ्गीकार किया है । साध्यसूत्र के प्रथम अध्याय तथा तृतीय अध्याय में स्पष्टरूप से ईश्वर की सत्ता का उल्लेख मिलता है । साध्यकारिका अथवा साध्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थों में ईश्वर का उल्लेख नहीं है तो निषेध भी नहीं है । इस प्रकार हो सकता है कि विषयान्तर विषयक अपेक्षाबुद्धि होने के कारण ईश्वर की तरफ से अपेक्षाबुद्धि हो गयी हो, विषयान्तर विषयक अपेक्षाबुद्धि ईश्वरविषयक अपेक्षाबुद्धि की प्रतिबन्धक बन गयी हो, इत्यादि बहुत से कारण हो सकते हैं ।

“ईश्वरासिद्धि” इस साध्यसूत्र के आधार पर जो ईश्वर के अभाव का अथवा ईश्वर के अस्तित्वाभाव का निश्चय कर बैठते हैं, वे भी सर्वथा भ्रान्त हैं । कारण कि सूत्र में तो ईश्वर की असिद्धि = अनिश्चय का प्रदर्शन किया है न कि उसके अभाव का । असिद्धि तो कारणान्तरप्रयुक्त भी हो सकती है ।

एक बार मैं अंधेरी कोठरी में सो रहा था, कई लोग मुझे देखने और पूछने को आये । सबको मना कर दिया कि नहीं हैं । मुझे उस अंधेरी कोठरी में भी देखा परन्तु अधिकार होने के कारण मैं न दीख सका । मेरी चाक्षुषप्रत्यक्षात्मिका सिद्धि उन्हें न हो पायी । इसका एकमात्र कारण आलोकसंयोग का न होना ही हो सकता है । क्योंकि कि चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतरूपा-

वच्छिन्न-आलोकसंयोगावच्छिन्न चक्षुःसंयोग को सिद्धान्ततः कारण माना गया है। प्रकृत में आलोकसंयोगावच्छिन्नत्वरूपविशेषण से विशिष्ट चक्षु अथवा चक्षुः-संयोग नहीं है इसलिये दोष नहीं है। जिस प्रकार यहाँ आलोकसंयोगरूप कारण मेरी असिद्धि का हेतु हो रहा है, परन्तु वह मेरे अभाव का अथवा मेरे अस्तित्व के अभाव का कारण नहीं है, उसी प्रकार 'ईश्वरसिद्धेः' इस सूत्र में भी समझना चाहिये।

दर्शनों में वैषम्य क्यों ?

हमारी मूलभूत संस्कृति के आधार वेद है। वेदों के अन्दर आध्यात्मिक विज्ञान का तथा उससे सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। साधारणरूप से वेदों में आत्मज्ञान-ईश्वरज्ञान-तत्त्वज्ञान-ब्रह्मज्ञान एवं अहिमा-सत्य-तप-ब्रह्मचर्य-भक्तिधर्म-योग एवं यज्ञ आदि विषयों का वर्णन बड़े ही सुचारु ढंग से किया गया है। उसमें भी सभी विषय तो सबको अभिप्रेत नहीं होते हैं, किन्तु उनसे जो विषय जिसको मुख्यरूप से अभिप्रेत होता है वह व्यक्ति उसी विषय को लक्ष्य कर प्रवृत्तिशील बनता है। और उसी की प्राप्ति तथा उसी की सिद्धि के लिये सर्वथा अपने अन्तःकरण का, बुद्धि का तथा शरीर एवं बाह्य इन्द्रियों का प्रयोग भी करता है। महामुनि कपिल को तत्त्वज्ञान अपेक्षित था, पतञ्जलि को योग, कणाद और गौतम को पदार्थतत्त्व, जैमिनि को योग आदि सत्कार्यकलाप, मनु को धर्म, महर्षि देवव्यास जी को ब्रह्मज्ञान, नारद जी को भक्ति और मनु को धर्म इत्यादि विषय प्रिय एवं अभिप्रेत थे। वे उन्हीं अपने-अपने विषयों में प्रवृत्तिशील भी रहते थे। कारण कि ये सभी विषय मोक्ष के प्रति साक्षात् परम्परया कारण माने गये हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इन्हीं विषयों के आधार पर विभिन्न दर्शनों का निर्माण किया है।

कणाद गौतम को पदार्थवाद ही प्रिय और अभिप्रेत था इसलिये उन्होंने पदार्थशास्त्र न्याय तथा वैशेषिक का प्रणयन किया। महर्षि व्यास जी को आत्म-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्रिय था। उन्होंने तदनुकूल ही वेदान्तदर्शन का प्रणयन कर दिया। जैमिनि को मागादिसत्-कर्मकलाप अपेक्षित था इसलिये उन्होंने भीमांसा-दर्शन की रचना की। भगवान् मनु को धर्म प्रिय था इसलिये उन्होंने तदनुकूल मनुस्मृति की रचना कर दी। भगवान् पतञ्जलि को योग प्रिय था इसलिये उन्होंने योगदर्शन का ही स्वतन्त्ररूप से निर्माण कर डाला। इसी प्रकार हमारे

महामुनि श्री कपिल जी की पञ्चविंशति तत्त्वज्ञान अपेक्षित था, तदनुकूल उन्होंने साक्ष्यदर्शन का निर्माण कर दिया । इस प्रकार अपना-अपना लक्ष्य पूरा करने के लिये इ-भिन्न भिन्न अपि महर्षियों ने यथा शक्ति भिन्न-भिन्न शास्त्रों का, दर्शनों एवं ग्रन्थों का प्रणयन कर डाला । यही दर्शनों के वैपम्य का प्रधान कारण है । और दर्शनों का यह परस्पर का वैपम्य ही उनकी विभिन्नता का कारण है । इसी लिये कहा भी है—

श्रुतयोऽपि भिन्ना स्मृतयोऽपि भिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ॥

अन मे कहा है कि—“महाजनों येन गत म पन्था ।”

अपने-अपने द्वारा रचित शास्त्रों के प्रामाण्य की स्वीकार करके इन लोगों ने आगे कदम बढ़ाया । और इनके द्वारा रचित इन शास्त्रों का प्रामाण्य समस्त आस्तिक जनताजनार्दन ने स्वीकार किया । भगवान् कृष्ण ने भी उस प्रामाण्य की स्वीकार करते हुये स्वयं कहा है—

“तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ”

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न भिन्न विषयों के विवेचन के कारण विषयों के वैपम्य प्रयुक्त दर्शनों में विभिन्नता एवं विषमता पायी जाती है । विषयों की परस्पर में विभिन्नता एवं विषमता ही दर्शनों के भेद और वैपम्य का कारण है ।

—ज्वालाप्रसाद गोड

गौडपादभाष्यसहिता सांख्यकारिका

‘भाष्यभाववर्णिनो’ संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

● ●

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।

दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

● गौडपादभाष्यम् ●

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।

कारुण्यात् सांख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय^१ ॥ १ ॥

अल्पग्रन्थं स्पष्टं प्रमाणसिद्धान्तहेतुभिर्युक्तम्^२ ।

शास्त्रं शिष्यहिताय समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥

दुःखत्रयेति । अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते^३ । इह भगवान् ब्रह्म-
सुतः कपिलो नाम, तत् यथा—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।

आसुरिः कपिलश्चैव बोधुः पञ्चशिखस्तथा ।

इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥

१. सत्वरजस्तमोभित्तिगुणैः प्रतापमानेऽमुष्मिन्मायाप्रगञ्चे निमज्जतां प्राणिनामुद्धरणार्थं ‘संख्यां प्रकुर्वते चैवं प्रकृतिं च प्रवसते । चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥’ इत्याद्युक्तदिशाऽन्वयसंज्ञा सांख्यदर्शनात्मिका नौरिव येन महर्षिणा विनिर्मिता तस्मै नम इति भावः ।

२. दृष्टादीनि प्रमाणानि सत्कार्यवादादित्थाः सांख्यसिद्धान्ताः अव्यक्ता-
दिप्रमेयसाधकहेतवश्च तैर्युक्तमित्यर्थः ।

३. प्रासङ्गिकं पीठमारुह्यत इत्यर्थः ।

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञान वैराग्यमैश्वर्यं च' इति एव स 'उत्पन्न' सन् अन्ये नममि मज्जज्जगदालोक्य ससारपागम्प्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणाय इदं पञ्चविप्रतितत्त्वानां ज्ञानम्, उक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति—

पञ्चविप्रनितस्वज्ञो यत्र तत्राप्यमे वसन् ।

जटी मुण्डो गिर्या वापि मुच्यते नात्र सशयः ।

तदिदमाह—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति । तत्र दुःखत्रयम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं—शारीरमानसं चेति । शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारदि । मानसं प्रियविद्योगाप्रियसयोगादि । आधिभौतिकं चतुर्विधं भूतग्रामनिमित्तं^१ अनुप्यपशुमृगपक्षिसरीसृपदशमशकयूषामस्तृणमत्स्यमकरघाहस्यावरेभ्यो जरायुजाण्डजस्वदजोद्भिज्जेष्य सक्ताशादुपजायते । आधिदैविकं—देवानामिदं दैवम्, दिव प्रभवतीति वा दैव, तदधिकृत्य^२ यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम् ।

एव यथा दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा कार्या । क्व ? तदभिघातके हेतौ । तस्य दुःखत्रयस्य अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति । 'दृष्टे सापार्यां चेत्' दृष्टे हेतौ दुःखत्रयाभिघातके सा जिज्ञासाऽपार्या चेद् यदि, तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि धामुर्वेदशास्त्रत्रियया प्रियसमागमाप्रियपरिहारकदृष्टितत्त्वपायकवाधादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपाय, आधिभौतिकस्य^३ रसादिनाऽभिघातदृष्ट, दृष्टे साऽपार्या चेदेव मन्यसे, न, ऐकान्तात्यन्ततोऽभावात् । यत् एकान्ततोऽन्यमत्यन्ततो नित्यं दृष्टेन हेतुनाऽभिघातो न तस्मादन्यत्र^४ एवान्तात्य ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा विविदिषा कार्येति ॥ १

१ अनुपदवश्यमाणजरायुजादि-चतुर्विधभूतसमुदायोत्यम् ।

२ तत्रिमित्ताकृत्येन्यर्थः ।

३ इत्युक्तदुःखत्रयाभिसम्बन्धादित्यर्थः ।

४ निरत्ययम्यानवासनीतिशाम्प्रानुसरणादिरूपरसादिनेत्यर्थः ।

मुप-क्षेपम्—आधिदैविकस्यापि दुःखस्य भणिमन्त्रीषधादिनाऽभिघातो द्रष्टव्य पूर्वपदमुपसहरति—दृष्ट इति ।

५ पूर्वोक्तदृष्टोपायाद्भिन्ने साध्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानरूप इत्यर्थः ।

● भाष्यभाववर्णिनी ●

यदज्ञानप्रभावेण भासते सकलं जगत् ।

यज्ज्ञानाच्छ्रेय आप्नोति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥

अन्वयः—दुःखत्रयाभियातात् तदपघातके, हेतौ, जिज्ञासा (भवति) दृष्टे सा, अपार्या, चेत्, न एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् ।

व्याख्या—दुःखानां 'त्रयं' दुःखत्रयम्, 'तच्च' आध्यात्मिकम्-आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्च, तेषाम् (आत्मनि) अभिधातात् = सम्बन्धात् । तदपघातके = तस्य दुःखत्रयस्य, अपघातके, विनाशके । हेतौ = कारणे । जिज्ञासा = दुःखत्रयस्य 'विनाशकारणं किमिति' ज्ञातुमिच्छा (भवतीति शेषः) । दृष्टे = दृष्टोपाये अर्थात् 'औषधसेवनात्मके, कामिन्या उपभोगात्मके' च 'दृष्टकारणे' सति । सा = जिज्ञासा । अपार्या = निरस्ता (भवेत्) । चेत् । न । एकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् = एकान्तम्-दुःखनिवृत्तेरवश्यंभावः, अत्यन्तम्-निवृत्तस्य 'दुःखस्य' पुनरुत्पत्तिः, तयो अभावात् । अर्थात् ऐकान्तिक-आत्यन्तिकरूपेण दुःखनिवृत्तेरभावादित्यर्थः अर्थात् 'दृष्टोपायेन' ऐकान्तिक (आवश्यक) रूपेण तथा 'आत्यन्तिकरूपेण' दुःख-निवृत्तिर्न भवतीति भावः ॥ १ ॥

हिन्दी—संसार के अन्दर आकर प्राणिमात्र जब कि आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक इन्-तीन प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है तब उस समय उन तीनों प्रकार के दुःखों के विनाश के कारण से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उनकी निवृत्ति का कारण कौन है ? और यदि वह जिज्ञासा दुःख की निवृत्ति (विनाश-) के कारणीभूत औषध-सेवन अथवा कामिनी (सुन्दर स्त्री) के उपभोग रूप दृष्ट उपाय से ही शान्त हो जाती है तो शास्त्र के आधार पर होने वाले दुरधिगम तत्त्वज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर दिया कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति दृष्ट उपाय से ऐकान्तिक (आवश्यक) रूप से तथा आत्यन्तिक (फिर कभी भी दुःख उत्पन्न न हो ! रूप से नहीं होती है । अतः उनकी निवृत्ति के लिये शास्त्र में होनेवाला तत्त्वज्ञान ही श्रेयस्कर है ॥ १ ॥

दृष्ट उपाय से दुःखनिवृत्ति न हो किन्तु ज्योतिष्टोमादियागात्मक वैदिक उपाय से ही दुःखत्रय की निवृत्ति ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से हो जायगी श्रुति भी कहती है कि - 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् याग से स्वर्ग होता है और

स्वर्ग उस सुखजिगेय का नाम है जो कि न तो दुःख मिश्रित हो और होने के पश्चात् जो दुःख प्रसूत न हो तथा जिसके होने के अनन्तर इच्छानुसार वस्तु की प्राप्ति होती रहे। अतः दुःख की निवृत्ति के लिये शास्त्रजन्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? इस शका को दूर करने के लिये कहते हैं—

दृष्टवदानुश्रविक स ह्यविशुद्धिसयातिशययुक्तः ।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

श्री०—‘यदि’ दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैव, यत आनुश्रविको हेतु दुःखमयाभिघातक अनुयुक्त इत्यनुश्रवस्तत्र भव, आनुश्रविक, स च आगमात् सिद्धः ।

यथा—अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।

किं वा नूनमस्मान् तृणवदराति किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥

* कदाचिदिन्द्रादीनां देवानां कल्प आसीत्—कथं वयममृता अभूमेति विचार्य, यस्मादपमपाम सोम पीतवन्तः सोम तस्मादमृता अभूम अमरा भूतवन्त इत्यर्थः । किं च, अगन्म ज्योति—गतवन्त लब्धवन्त ज्योतिः स्वर्गमिति । अविदाम देवान्—दिभ्यान् विदितवन्तः । एवं च किं नूनमस्मान् तृणवदराति, नून निश्चित विमराति शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्तति । किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य धूर्तिर्परा हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य^१ । अन्यच्च वेदं श्रुयते आत्यन्तिकं फल पशुवदेन—‘सर्वाल्लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन मनते’ इति । एकान्तात्यन्तिके एव वेदोक्ते^२ ‘अपार्थव जिज्ञासा’ इति, न । उच्यते दृष्टवदानुश्रविक इति । दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत्, योऽसौ आनुश्रविकः कस्मात् स दृष्टवत् ? यस्मादविशुद्धिसयातिशययुक्त अविशुद्धियुक्त पशुपातात् ।

१ शङ्कते—प्रदीति । नैवेति । दृष्टोपायातिरिक्ते साम्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञान-विषये जिज्ञासा नैव कार्या—इति शेषः । तत्र हेतुमाह—यत इति ।

२ सेतिहासमन्वार्थमाह—नदाचिदिति । कल्प—न्यायः ।

३ दिभ्यशरीरस्य मे इत्यर्थः । आनुश्रविककर्मकलापस्यात्यन्तिकदुःखनिवृत्तौ प्रमाणान्तरमाहान्यभवेति । पशुवदेन—तन्निमित्तेन यागादिकर्मणेत्यर्थः ।

४ आत्यन्तिकवैवाचित्यदुःखपरिहारके वैदिके कर्मणि सुकरे उपाये विद्यमाने सति दुष्करे शास्त्रोक्ततत्त्वज्ञानरूपे जिज्ञासा व्यर्थवेत्यर्थः ।

तथा चोक्तम्—पट् शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि ।

अश्वमेघस्य वचनद्वयानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ इति ।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहिता धर्मस्तथापि^१ मिथ्याभावादविशुद्धियुक्त इति ।

तथा—बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे ।

कालेन समतीतानि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ इति ॥

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः । तथाऽग्निजयो विजेषस्तेन युक्तः । विशेषगुण-
दर्शनादितरस्य^२ दुःख स्यादिति । एवमानुश्रविकाऽपि हेतुदृष्टवत् । 'कस्तहि
श्रेयानि' ति ? उच्यते—तद्विपरीतः श्रेयान् ताभ्या दृष्टानुश्रविकाभ्यां विपरीतः
श्रेयान् प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तत्वात् । कथमित्याह—व्यक्ता-
व्यक्तज्ञविज्ञानात् । तत्र व्यक्तं महादि-भुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशे-
न्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि, अव्यक्तं प्रधानम्, ज्ञः पुरुषः, एवमेतानि पञ्चविंशति-
तत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते, एतद्विज्ञानात् श्रेय इति । उक्तं च 'पञ्चविंशति-
तत्त्वज्ञ' इत्यादि ॥ २ ॥

अन्वयः—आनुश्रविकः, (अपि) दृष्टवत्, (अस्ति) हि, सः अविशुद्धि-
क्षय-अतिशययुक्तः, (अस्ति) (अतः) तद्विपरीतः, (उपायः) श्रेयान्
(वर्तते) (स च उपायः) व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्, (भवति) ।

व्याख्या—आनुश्रविकः=गुरुपाठात् अनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः=तत्र
भवं आनुश्रविकः ज्योतिष्टोमादियागादिरूपो वैदिकः कर्मकलाप इत्यर्थः । दृष्टवत्=
पूर्वोक्तदृष्टोपायतुल्य एवास्तीति भावः । हि=यतः । सः=आनुश्रविक उपायः ।
अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः=अविशुद्धिदोषयुक्तः यथा मनुष्यः कस्यचित् प्राणिनो
हिंसां विधाय अविशुद्धिदोषयुक्तो भवति तथा यज्ञेऽपि पशुहिंसां कृत्वापि तादृश-
दोषवान् भवतीति भावः ।

क्षयदोषयुक्तश्च—स्वर्गादिरूपफलस्य भोगेन नाशयत्वात्, पुनः पतनसंभवात्,
यथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति श्रूयते ।

१. पशुवधजन्यपापफलदुःखयुक्तत्वात् स्वर्गादिरूपपापफलजनको धर्मो न
इत्यर्थः । वैर्घहिसाभिन्नहिंसैव-पापजनिकेत्यत्र भिन्नान्तत्वनिवेशे प्रमाणाभावात् ।

२. हीनगुणसम्पदः ।

अति' नेपयुक्तोऽपि यथा विज्ञकर्मकाण्डिन दृष्ट्वा मूर्खकर्मकाण्डो दुःखी भवति, धनिन दृष्ट्वा दरिद्रो दुःखी भवति, एव सुन्दर पुरुष दृष्ट्वा कुरूपो दुःखी भवति, तथा स्वर्गेऽपि इन्द्रागनासीन जीव दृष्ट्वा अपरे दुःखिनो भवन्ति । अतः अनुश्रविकेणापि यागादिकर्मकलापेन नैकान्तिकी-नात्यन्तिकी च दुःखनिवृत्ति-र्भवितुमर्हति इति भावः ।

(अतः) तद्विपरीत = तस्मात्-आनुश्रविकोपायात्, विपरीत । (उपाय) अर्थात् 'साध्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानरूप' उपाय । श्रयान् = प्रशस्त (स 'च' सत्त्व-ज्ञानरूपोपाय) व्यक्तव्यक्तज्ञविज्ञानात् = व्यक्तञ्च अव्यक्तञ्च ज्ञञ्च-तेषां, विज्ञानात् अर्थात्-पञ्चविंशतिनित्त्वानां साध्यशास्त्रजन्यव्यपार्यज्ञानात् । (भवति) ॥ २ ॥

हिन्दी-अनुश्रव (वेद) में विहित यागादिरूप आनुश्रविक उपाय भी पूर्वोक्त वृष्ट उपाय के समान ही हैं, क्योंकि वह भी अविशुद्धिदोष क्षयदोष तथा अति-शय दोष—इन तीन प्रकार के दोषों से युक्त ही है । इसलिये उस आनुश्रविक उपाय से विपरीत ही उपाय दुःखत्रय की निवृत्ति के लिये श्रेयस्कर होगा—जो कि व्यक्त-अव्यक्त (प्रकृति) तथा ज्ञ (पुरुष) इनके अवान्तर भेद सहित पञ्चीस तत्त्वों के व्यपार्य ज्ञान से होता है और यह ज्ञान साध्यशास्त्र के अध्ययन से होता है । इसी उद्देश्य से ईश्वरकृष्ण ने पञ्चशिखाचार्य से इस साध्यशास्त्र सम्बन्धी पञ्चविंशति तत्त्वज्ञान को लेकर कारिका के द्वारा अभिव्यक्त किया ॥२॥

अब ईश्वरकृष्ण साध्य-सम्बन्धी पञ्चीस प्रकार के तत्त्वों के स्वरूप को पदार्थ-चतुष्टय के रूप में बतलाते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

गी०—'अथ व्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इति' ^१उच्यते-मूलप्रकृति प्रधानम् प्रकृतिविकृतिरसप्तकस्य मूलभूतत्वात्, मूल च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृति, अविकृति अन्यस्मान्नोदराद्यने, तेन प्रकृति ^२कस्यचिद्विकारो न भवति । मह-

१ पूर्वोक्तपञ्चविंशतिनित्त्वानां मलिनचतुर्विधसाध्याभिमतपदार्थेषु अन्तर्भावस्वरूपविशेष उच्यते इत्यर्थः ।

२ प्रवर्पेण कार्यवर्णनात्प्रकृतिरिति वाचस्पतिमाठरी ।

दाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । महान् बुद्धिः, बुद्ध्याद्याः सप्त-बुद्धिः १
अहङ्कारः १ पञ्चतन्मात्राणि ५ एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तद् तथा-प्रधानाद्
बुद्धिरुत्पद्यते तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति, सैवाहङ्कारमुत्पादयति अतः
प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति
प्रकृतिः । तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति
प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव वायुमुत्पा-
दयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव पृथिवीमुत्पा-
दयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव तेज
उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवाप
उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महादाद्याः सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च । षोडशकस्तु
विकारः; पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादश मनः पञ्च महाभूतानि
एष षोडशको गणो विकृतिरेव विकारो विकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृति
पुरुषः^२ ॥ ३ ॥

अन्वयः-मूलप्रकृतिः, अविकृतिः, महादाद्याः, सप्त, प्रकृतिविकृतयः (भवन्ति)
षोडशकः (गणः), विकारः, तु, पुरुषः न प्रकृतिः, न विकृतिः, (अस्ति) ।

व्याख्या-मूलप्रकृतिः=प्रकरोति-संसारं रचयति, इति प्रकृतिः, मूलञ्चासौ
प्रकृतिः मूलप्रकृतिः, संसारस्य मूलकारणं प्रधानमित्यर्थः । अविकृतिः=न
विकृतिरिति अविकृतिः, विकारशून्या इत्यर्थः । महादाद्याः=महत् आद्यं येषां ते
महादाद्याः-महत्त्वम्, अहङ्कारतत्त्वम्, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धतन्मात्राणि इत्यर्थः ।
सप्त=सप्तसंख्याकाः । प्रकृतिविकृतयः=प्रकृतयश्च विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतय
कारण-कार्योभयरूपाः, अर्थात् कस्यचित् कारणानि कस्यचित्च कार्याणि इत्यर्थः ।
भवन्तीति शेषः । षोडशकः=तानेन्द्रियपञ्चकम्-कर्मेन्द्रियपञ्चकम्-तन्मात्रपञ्चकम्-
मनश्चेति षोडशसंख्याकः । (गणः) विकारः=कार्यमेव । पुरुषः=जीवपदाभिधेयः
सांख्यपुरुषः । न प्रकृतिः=न कारणम् । न विकृतिः=न कार्यम् (अस्ति) ॥ ३ ॥

हिन्दी-संसार की रचना करनेवाली मूलभूत प्रकृति किसी की भी कार्य
(विकृति) नहीं है अपितु वह समस्त चराचर विश्व को कारण (अविकृति)

१. पूर्वोक्तशब्दतन्मात्ररीत्या, एवमग्रेऽपि ।

२. एवं च प्रकृतिविकृतिरूपे जगति कश्चित्प्रकृतिरूप एव, कश्चिद्विकृतिरूप
एव कश्चिदुभयरूपः, कश्चिदनुभयरूप एव पदार्थ इति भावः ।

ही है और महत् आदि संस्कृत टीकोक्त सात पदार्थ किसी के कारण (प्रकृति), किसी के वाय (विवृति), दोनों माने गये हैं तथा संस्कृति टीकोक्त १६ पदार्थ वायं ही होने हैं और पुरुष न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है वह एकमात्र पुष्कर (कमल) पलाश (पत्र) के समान निर्लेप है ।

अभिप्राय यह है कि साध्य में सामान्यतः चार पदार्थ माने गये हैं—१-कारण २-कार्य, ३-वायकारणोभयरूप, ४-वायकारणानुभवात्मक । जिनमें कारण-भूतपदार्थ केवल प्रकृति है और वायभूतपदार्थ १६ हैं, वस्तु आदि १-ज्ञानेन्द्रिया वाणी आदि, ५-कर्मोद्भिदा, शब्द आदि ५-तन्मात्राएँ और मन । और महत् अहंकार, ५-तन्मात्राएँ ये ७ पदार्थ कारण कार्य उभयरूप है और पुरुष न किसी का कारण है न किसी का कार्य है अतः वह अनुभवात्मक है । इस प्रकार इन चार प्रकार के पदार्थों के ही २५ भेद हो जाते हैं ॥ ३ ॥

इन पूर्वोक्त पदार्थों के साध्य प्रमाण कितने हैं तथा कौन-कौन है ? शब्द का उत्तर देते हैं ।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

गी०- 'एवमेया व्यक्तात्मकज्ञाना यथाया पदार्थानां च' जियझि प्रमाणै केन कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति, इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते, यथा प्रत्यादिभिर्ग्राह्यस्तुलया चन्दनादि, तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्^१ । दृष्टमिति दृष्टं तथा श्रोत्र त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धोद्भियाणि, शब्दस्पर्शरसगन्धा एषा पञ्चाना पञ्चैव विषया यथासिद्ध्यम्, शब्द श्रोत्र गृह्णाति त्वक् स्पर्शं, चक्षु रूप, जिह्वा रस, घ्राण गन्धमिति, एतद् दृष्टमित्युच्यते प्रमाणम्^२ । प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते स आप्तवचनाद् ग्राह्यः^३ यथा 'इन्द्रो

१ प्रमेयोद्देशानन्तरम् । प्रमाणनिरूपणे सङ्गतिमाह-एवमिति ।

२ तद्दर्शयति-विभागलक्षणाभ्यां दृष्टमित्येति शेषः ।

३ प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं प्रसिद्धत्वाद्वाच्यमाणाच्चात्रोद्देशप्रकरणे नोक्तम् ।

४ आप्ता रागद्वेषरहिता सन्तुष्टमारादयः, श्रुतिर्वेदस्ताभ्यामुपदिष्टं तथेति श्रद्धयैवमाप्तवचनमिति गाठरः ।

देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेश्वरसः' इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाग्राह्यमप्याप्त-
वचनाद् गृह्यते । अपि चोक्तम्^१—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं^२ दोषस्तथाहिदुः ।
लीणदोषोऽनृतं चावयं न ब्रूयाद्धेतुत्वम्भावत् ॥
स्वकमण्यभियुक्तो यः, सङ्गद्वेषविवर्जितः ।
पूजितस्तद्विर्धनित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥ इति ।

^३ एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति । पदं प्रमाणानि जैमिनिः ।

अथ कानि तानि प्रमाणानि ? 'अर्थापत्तिः सम्भवः अभावः प्रतिभा ऐतिह्यम्
उपमानं च' इति पदं प्रमाणानि । तत्रार्थापत्तिद्विविधा—दृष्टा श्रुता च । तत्र
दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्तत्प्रात्मभावो गृह्यत एव ।
श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते राधो
भुङ्क्ते इति । सम्भवो यथा—प्रस्य इत्युक्तं चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते । अभावो
नाम प्रागितरेतरात्यन्तसर्वाभावलक्षणः । प्रागभावो यथा—देवदत्तः कौमारयोवमा-
श्रितः^४ । इतरेतराभावः—पटे घटाभावः । अत्यन्ताभावः स्वरविषाणवन्ध्यासुत-
खपुष्पवदिति । सर्वाभावः—प्रह्वंसाभावो दग्धपटवदिति । यथा शुष्कस्रान्यदर्शनाद्
दृष्टेरभावोऽवगम्यते ।^५ एवमभावोऽनेकधा । प्रतिभा यथा—'दक्षिणेन च
विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम् । पृथिन्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः ॥' एव-
मुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोदपद्यते, प्रतिभा च जानतां
ज्ञानमिति^६ । ऐतिह्यं यथा—ब्रवीति लोको यथाऽप्रवटे यक्षिणी प्रतिवसतीत्येव

१. अत एवोक्तमिदं पर्यः ।

२. आप्तवचनं लक्षयित्वा तद्व्यतिरिक्तमाप्तत्वं निर्वर्त्तितं—आप्तमिति ।

३. सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति कारिकांशं व्याचष्टे—एतेष्विति । सिद्धानि-
अन्तर्भूतानि ।

४. कुमारदेवदत्ते गुवा भविष्यतीति यौवनप्राप्तभाव इत्यर्थः ।

५. यथा—प्रतियोगितावच्छेदकारोपसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरत्यन्तान्यो-
न्याभावयोर्वहुत्वम् । एवं विशिष्टाभावद्वित्वावच्छिन्नाभावसामान्याभावभेदे-
नाप्यभावस्थानेकविधत्वं विभावनीयम् ।

६. इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थज्ञानं सा प्रतिभा सैव च प्राति ममार्थापर-
पर्यायं ज्ञानमिति प्रशस्तपादाचार्याः ।

ऐतिह्यम् । उपमान यथा—गोरिव यवय, समुद्र इव तटाग । एतानि पट् प्रमा-
णानि त्रिषु दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि । तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता^१ सम्भवा-
भावप्रतिर्भेतिहोपमानाश्चाप्तवचने । तस्मात् त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविध
प्रमाणमिष्ट, तदाह—तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिर्भवतीति^२ वाक्यशेष ।
प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि । प्रमेय प्रधान बुद्धिरहङ्कार पञ्चतन्मात्राणि एका-
दशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि पुरुष इति, एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञा
इत्युच्यन्ते, तत्र किञ्चित् प्रत्यक्षेण साध्य किञ्चिदनुमानेन किञ्चिदगमेनेति त्रिविध
प्रमाणमुक्तम् ॥ ४ ॥

अन्वय — दृष्टम्, अनुमानम् च, आप्तवचनम्, त्रिविधम् प्रमाणम्, इष्टम्
सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, हि, प्रमेयसिद्धिः, प्रमाणात्, (भवति) ।

व्याख्या - दृष्टम् = प्रत्यक्षम् । अनुमानम् । च । आप्तवचनम् = शब्द ।
त्रिविधम् । प्रमाणम् । इष्टम् = अभिमतम् । साप्यानामिति शेष । ननु त्रिविध-
प्रमाणातिरिक्तप्रमाणानां सत्त्वात्कथं त्रिष्वेव प्रमाणानि उक्तानि इति चेन्न ।
सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । हि = यतः । प्रमेयसिद्धिः = प्रमेयपदार्थानां घटपटादीनां,
सिद्धिः = निश्चयः । प्रमाणात् । भवतीति शेषः ॥ ४ ॥

हिन्दी—प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान, आप्तवचन (शब्द)—ये तीन प्रकार
के प्रमाण साध्यों ने माने हैं । अन्य लोगों से स्वीकृत और सब प्रमाण इन्हीं तीन
प्रमाणों से सिद्ध (अन्तर्भूत) हैं । प्रमाणों को स्वीकार करने की आवश्यकता
इसलिये होती है कि घट-पट आदि प्रमेय पदार्थों की सिद्धि प्रमाण के आधार
पर ही होती है ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त प्रमाणों के लक्षण बतलाते हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट त्रिविधमनुमानमाहयातम् ।

सत्त्वङ्गलिङ्गपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥

१ जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिःसत्त्वत्पनमर्यापत्तिरभिमतता भीमा-
सकानाम्, किन्तु देवदत्तो बहिःसत्तावान् जीवित्वे सति गृहेऽप्रत्तादहमिवेति व्यभि-
रेक्यनुमान एव सत्या अन्तर्भाव इत्यर्थः । सम्भवेति । अत्र सम्भवाभावयोरनुमान-
प्रत्यक्षान्तर्भावस्य सकलदाष्टनिकमतसम्मतत्वादाप्तवचनेऽन्तर्भावश्चिन्त्यः ।

२ दृष्टादित्रिविधप्रमाणेऽर्थापत्त्यादिप्रमाणान्तर्भावो भवतीत्यर्थः ।

गो०—तस्य किं लक्षणमेतदाह—प्रतिविषयेषु शब्दादिविषयेषु
अध्यवसायो दृष्टः, प्रत्यक्षमित्यर्थः । त्रिविधमनुमानमाख्यातम्—पूर्ववत् शेषवत्
सामान्यतोदृष्टञ्चेति । पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववद्, यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति
पूर्वदृष्टवात् । शेषवत् यथा—समुद्रादेकं जलपलं^१ लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति
लवणभाव इति । सामान्यतोदृष्टम्—देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तं दृष्टम् गति-
मच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य
गतिमानयमिति तद्वच्चन्द्रतारकमिति, तथा पुष्पिताभ्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आभ्रा
इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति^२ एतत्सामान्यतो दृष्टम् । किञ्च तल्लिङ्ग-
लिङ्गपूर्वकमिति, तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं, यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा
दण्डेन यतिः । लिङ्गपूर्वकं च, यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा—दृष्ट्वा
यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति^३ आप्तश्रुतिराप्तवचनं च । आप्ता आचार्या
ग्रन्थादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः^४ तदुक्तमाप्तवचनमिति
एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—प्रतिविषयाध्यवसायः, दृष्टम्, अनुमानम्, त्रिविधम्, आख्यातम्,
तत्, लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्, आप्तश्रुति, आप्तवचनम् तु ॥ ५ ॥

ट्याख्या—प्रतिविषयाध्यवसायः = 'विषयं-विषयं' प्रति 'वर्तते' 'इति' प्रति-
विषयम् = अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियम्, अध्यवसायः = ज्ञानम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य
ज्ञानम् इत्यर्थः । दृष्टम् = प्रत्यक्षप्रमाणम् । अनुमानम् = अनुमानं प्रमाणम् ।
त्रिविधम् = पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्टञ्च । आख्यातम् = कथितम् । तत् =
पूर्वोक्तम् अनुमानम् लिङ्गलिङ्गपूर्वकम् = लिङ्गम् व्याप्यम्, लिङ्गि व्यापकम् ।

१. पलपरिमार्जं जलमित्यर्थः । लवणं-क्षारम् ।

२. अत्र अयं देशो भविष्यद्वृष्टिमान् मैथोन्नतित्वात् तद्वेशवत्, समुद्रजलं
क्षारमुदघिजलत्वादुद्धृतजलवत्, चन्द्रतारकं गतिमत् देशान्तरप्राप्तिमत्वाच्चैत्र-
वदिति क्रमेण त्रिविधस्यानुमानस्य प्रयोगा द्रष्टव्याः ।

३. लिङ्गं व्याप्यं, लिङ्गं व्यापकं, लिङ्गलिङ्गपदेन प्रत्ययीपलक्षणम्,
लिङ्गग्रहणावृत्त्या च लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानं दण्डितम्, तेन व्याप्य-
व्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणमिति मिथ्याः ।

४. द्वन्द्वसमासेन वेदवाक्यानामार्वाणां वाक्यानां च स्वतः प्रमाणत्वमुद्धोषितं
तन्मूलत्वाच्चेतरेषां प्रमाणत्वमिति ।

तत्पूर्वकम् अर्थात् व्याप्यव्यापकभावपूर्वकम्, लिङ्गिपदञ्च आवर्तनीय तेन
 आवृत्तद्वितीयलिङ्गपदेन लिङ्गमस्यास्तीति व्युत्पत्त्या पक्षधर्मताज्ञानमपि 'लब्ध'
 भवति—तथा च व्याप्यव्यापकभावपूर्वकत्वे, सति पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकत्वम्,
 अनुमानसामान्यलक्षणम् । आप्तव्युत्ति = आप्तानाम् = वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृणाम्,
 व्युत्ति = ध्वनेर्द्वयजन्य-शब्दज्ञानम् तथा च 'आप्तपुरुषोच्चरितराजजन्य'
 वाक्यार्थज्ञानत्वम् । आप्तवचनम् = अर्थात् शब्दप्रमाणसामान्यलक्षणम् ।

हिन्दी—साध्यवालो न प्रतिविषय अर्थात् अथसन्निवृष्ट इन्द्रिय से होने
 वाले अध्यवसाय (वृत्तिरूप ज्ञान) को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना है । उनका
 अभिप्राय यह है कि घट-पट आदि विषयो के साथ इन्द्रियो का सम्बन्ध होने पर
 बुद्धि के तमोगुणरूप आवरण का भग होना है और फिर सत्त्वगुण स्वरूप प्रकाश
 का आविर्भाव होता है और उसके पश्चात् घटाकारवृत्तिरूप अध्यवसाय
 (निश्चयारम्भवृत्ति) का उदय होता है, वही निश्चयारम्भका अन्तःकरण
 (बुद्धि) की वृत्ति 'अथ घट' इस प्रमाज्ञानस्वरूप पौरुषेय बोध का कारण
 होने से प्रमाण बनती है ।

साध्यमत में अनुमान के स्वरूप का "लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्" कहकर शाब्दिक
 भेद अवश्य कर दिया है परन्तु आर्थिक स्वरूप अनुमान का वही है जो कि
 नैयायिकों ने माना है कि व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' । और इसी अर्थ में
 चाचस्पति मिश्र ने 'लिङ्गलिङ्गपूर्वक' का पर्यवसान भी किया है ।

और वह अनुमान—(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट—
 इस रूप से तीन प्रकार का है । कारण के द्वारा होनेवाले कार्यानुमान को
 पूर्ववत् अनुमान कहा है । जैसे बादलो से आच्छादित आकाश को देख कर तथा
 बिजली की कड़कडाहट को सुनकर भाविकालीन धृष्टिरूप कार्य का अनुमान
 होता है ।

शेषवत्—शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं जहाँ कार्य से कारण का अनुमान
 होता है । क्योंकि अन्तिमकार्य को 'शेष' शब्द से कहा है और उस कार्यरूप
 लिंग से होनेवाले अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा है । इसका सुगम उदाहरण
 है 'वह्निमान् घूमात्' ।

सामान्यतोदृष्ट—सामान्यतोदृष्ट वह अनुमान है जो कार्य और कारण इन

दोनों लिंगों से शून्य हो अर्थात् जहाँ हेतु में साध्य की व्याप्ति सामान्य रूप से दृष्ट हो चुकी हो। जैसे चक्षुः प्रमाणं प्रमाजनकत्वात् श्रोत्रवत् ।

आप्तवचनम्—यहाँ पर आप्तवचन यह लक्ष्य है और आप्त श्रुति यह लक्षण है। अर्थात् आप्तपुरुष के द्वारा उच्चरित यथार्थवाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान को ही शब्दप्रमाण कहा है। अतः वेदश्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्र एव सामान्यशास्त्र आदि के वाक्यों से उत्पन्न हुए ज्ञानों का भी शब्दप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है, बौद्धदर्शन प्रभृति वाक्यों के प्रामाण्य का निरास इसलिए हो गया कि वे अनाप्तोच्चरित हैं।

प्रश्न—पहिले जो तीन प्रकार के प्रमाण बतलाये थे उनमें से प्रत्यक्ष-प्रमाण का देखना-सुनना आदि फल स्पष्ट ही है अतः इतर दो प्रमाणों का अर्थात् अनुमान और शब्दप्रमाण का फल दिखलाते हैं—‘सामान्यतस्तु’ इत्यादि ग्रन्थ से—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥

गौ०—‘तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम्’ उच्यते—सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणामिन्द्रियाण्यतीत्य यतमानानां सिद्धिः। प्रधानपुरुषादतीन्द्रियो सामान्यतोदृष्टेमानुमानेन साध्येते,—यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणम्, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति, यतश्चाचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽन्योऽधिष्ठाता पुरुष इति। व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्, तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्—‘यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरुवः, स्वर्गोऽम्बरस’ इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—सामान्यतस्तु दृष्टात्, अतीन्द्रियाणाम् अनुमानात्, प्रतीतिः, (भवति) तस्मादपि, च, असिद्धं, परोक्षम्, आप्तागमात्, सिद्धम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—सामान्यतोदृष्टात् । अनुमानात् । तु=एव । अतीन्द्रियाणाम् = इन्द्रियाग्राह्यपदार्थानाम् (प्रधान-पुरुषादीनाम्) । प्रतीतिः=ज्ञानम् । (भवति) च । तस्मादपि = सामान्यतोदृष्टानुमानादपि । असिद्धम् = अज्ञातम् । परोक्षम् = अप्रत्यक्षम् (वस्तु) । आप्तागमात् = शब्दप्रमाणात् । सिद्धम् = ज्ञातम् । भवतीति शेषः ।

हिन्दी—सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही प्रकृति-पुरुष आदि अतीन्द्रियपदार्थों

की प्रतीति होती है और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी जिन स्वर्ग-नरक आदि अनीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान नहीं हो पाता है उनका ज्ञान शब्दप्रमाण के आधार पर हाता है ।

प्रश्न—जिस प्रकार आकाशपुष्प-कछुए के रोम-धरगोश के सौग आदि पदार्थों का प्रत्यक्षप्रमाण एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी ज्ञान ही न होकर उल्टा उनके अभाव का ज्ञान होता है उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का भी अस्तित्वाभाव ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? तब फिर कैसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति-पुरुष की सिद्धि साध्य कर सकेगा ?

अतिदूरात् सामीप्याद्दिन्द्रियघातान्मनोज्ञवस्थानाच्च ।

सौहृद्याद् व्यवधानादभिभवत् समानाभिहारात् ॥ ७ ॥

गी०—अत्र कश्चिदाह 'प्रधान पुरुषो वा नोपलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके सन्नान्ति तस्मात् तावपि न स्त' यथा द्वितीय शिखस्तृतीयो बाहुरिति^१ । तदुच्यते—अत्र सतामर्षानामप्लघोपलब्धिर्न भवति । तद् यथा—इह सतामर्षानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा, यथा—देशान्तरस्थाना चैत्रमैत्र विष्णुमिषाणाम् । सामीप्याद् यथा—घक्षुषोऽञ्जनानुपलब्धिः । इन्द्रियाभिघाताद्—यथा—विधिरान्धयो शब्दरूपानुपलब्धिः मनोज्ञवस्थानाद् यथा—अप्यप्रक्षित सम्यक्कथितमपि नावधारयति । सौहृद्याद् यथा—धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते । व्यवधानाद् यथा—कुक्ष्ये पिहित वस्तु नोपलभ्यते^२ । अभिभवाद् यथा—सूर्यतेजसाऽभिभूता ग्रहनक्षत्रतारकादयः नोपलभ्यन्ते । समानाभिहाराद् यथा—भुद्गराशो मुद्ग क्षिप्त कुबलयामलकमध्ये कुबलया-मलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते समानद्वयमध्याहृतत्वात् । एवमप्लघानुपलब्धिः सतामर्षानामिह दृष्टा ॥ ७ ॥

अन्वय—अतिदूरात्, अतिसामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोज्ञवस्थानात्, सौहृद्याद् व्यवधानात् अभिभवात्, समानाभिहारात् च, (अनुपलब्धिर्भवतीति शेषः) ।

व्याख्या—अतिदूरात् = अतिदूरत्वदोषात् । (अनुपलब्धिः = अप्रत्यक्ष, भवति) (एवम्) अतिसामीप्यात् । इन्द्रियघातात् = इन्द्रियस्य नष्टत्वात् । मनोज्ञ-

१. तन्नोच्यत इत्यर्थः । अत्र—अग्निः ।

२. बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः ।

वस्थानात् = मनसोऽसावधानात्, (विषयान्तरे संलग्नात् इत्यर्थः) । सूक्ष्मात् = सूक्ष्मत्वात् व्यवधानात् = व्यवहितत्वात् । अभिभवात् = अभिभूतत्वात् । समाना-
मिहारात् = स्वसजातीयवस्त्वन्तरसम्मिश्रणात् । (अनुपलब्धिः = उपलब्ध्य-
भावः, अप्रत्यक्षमिति यावत् । भवति)

हिन्दी—१—कुछ पदार्थों का अधिक दूर होने से प्रत्यक्ष नहीं होता है ।
जैसे—आकाश में अधिक दूर पर उड़ता हुआ पक्षी अत्यन्त दूर होने के नाते
दिखाई नहीं देता है ।

२—कोई वस्तु अत्यन्त समीप होने के नाते भी नहीं दीख पड़ती है—
जैसे नेत्रों में लगा हुआ अंजन अत्यन्त समीप होने के नाते स्वयं (अपने) को
नहीं दिखाई देता है ।

३—इन्द्रियों के घात (खराबी) से भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, जैसे—
अन्धव्यक्ति को कोई भी वस्तु नहीं दीखती है । एवं बधिर को कुछ भी सुनाता
ही नहीं है ।

४—मन के अनवस्थान (असावधानी) के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं
हो पाता है जैसे—चिन्ताग्रस्त व्यक्ति के समक्ष मौजूद वस्तु भी दिखाई नहीं
देती है ।

५—अत्यन्त सूक्ष्म होने से भी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है,
जैसे—ग्यायमस्त सिद्ध परमाणु तथा द्व्यणुक । इसी प्रकार तत्सत् रोगों के कीटाणु
भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के नाते नहीं दीख पड़ते हैं ।

६—व्यवधान (द्वार आदि की बाड़) होने से भी किसी वस्तु का प्रत्यक्ष
नहीं हो पाता है ।

७—कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु से अभिभूत हो जाने के कारण भी
नहीं दीख पड़ती है, जैसे—आकाश के अन्दर दिन में तारे तथा चन्द्रमा आदि
सूर्य के प्रकाश में अभिभूत (छिप जाने) होने के कारण नहीं दीख पड़ते हैं ।

८—अपने समान वस्तुओं में मिल जाने के कारण भी वस्तुयें नहीं दीख
पड़ती हैं, जैसे—तालाब, कुएँ आदि में पड़ा हुआ वर्षा का जल अलग से नहीं
दीख पड़ता है ।

प्रश्न—इन कारणों में ऐसा कौन कारण है जिसमें कि प्रकृति-पुरुष आदि
तत्त्वों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है ?

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।

महदादि तच्च कार्यं प्रकृति विरूपं सरूपं च ॥८॥

गी०-१ 'एव चास्ति किमप्युपगम्यते प्रधानपुरुषयोरप्येनयोर्वाऽनुपलब्धि-
नेन हेतुना, नेन चोपलब्धिः' । तदुच्यते-सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः, प्रधानस्ये-
त्यर्थः, प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलब्ध्यते यथाकाशे धूमोष्मजलनोहारपरमाणवः, सन्तोऽपि
नोपलब्ध्यन्ते । कथं तर्हि तदुपलब्धिः ? कार्यतस्तदुपलब्धिः । कार्यं दृष्ट्वा कारण-
मनुमीयते । अस्ति प्रधानं कारणं यम्येदं कार्यं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि
एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम् । तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपम्—
प्रकृतिं प्रधानं तस्य विरूपं प्रकृतेरसदृशम्, सरूपं च समानरूपं च, यथा
लोकैऽपि पितृस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यम् । येन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिप्टा-
द्वक्ष्यामः २ ॥ ८ ॥

अन्वयः—सौक्ष्म्यात्, तदनुपलब्धिः, न, अभावात्, कार्यतः, तदुपलब्धे
तच्च, कार्यम्, महदादि, प्रकृतिविरूपम्, सरूपं च ।

व्याख्या-सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्मत्वात् (हेतोः) । तदनुपलब्धिः=तेषाम् प्रधान-
पुरुषादीनाम्, अनुपलब्धिः=अप्रत्यक्षम् । (भवति) । न=न तु । अभावाद्
असत्त्वात्=अत्यन्तम् असत्त्वात् ।

यथा अत्यन्तमसत्तः शशशृङ्गादेः अत्यन्ताभावादेव नोपलब्धिर्भवति,
प्रधानपुरुषादीनामनुपलब्धिर्न भवति, अपि तु प्रधानपुरुषादीनाम् अयोम्यत्वादेव
अनुपलब्धिः (अप्रत्यक्षम्) जायते, तेषामयोग्यत्वे 'सौक्ष्म्यं' हेतुः, (तत्सिद्धं
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्) कार्यतः=प्रकृतेर्महदादिरूपकार्यतः अर्थात्
प्रकृतेर्महदादिशायं दृष्ट्वा । तदुपलब्धेः=तेषां प्रधानादीनाम्, उपलब्धेः=
ज्ञानाद् । अनुमानादित्यर्थः । (अनुमानप्रयोगश्च—'महदादिकार्यं सुख-

१ शङ्कने—एवमिति । अप्टघाऽनुपलब्धिर्वर्तता तथाप्येतेषु नेन हेतुना
प्रधानपुरुषयोरनुपलब्धिः, नेन वा हेतुना तयोरनुपलब्धावपि सिद्धिर्भवतीति शङ्का-
कर्तुराशयः ।

२ हेतुमदनित्यम् त्रिगुणमविवेकीति कारिकाद्वय इत्यर्थः ।

दुःख-मोहात्मकद्रव्यकारणम् कार्यस्य [त्रिगुणात्मकत्वात्] तच्च = तत्, च । महत् 'आदि' । कार्यम् । प्रकृतिसरूपम् = प्रकृतिसजातीयम् । च । विष्णुम् = प्रकृतिविजातीयम् । [यथा पुत्रः क्वचित् पितुः सदृशो दृश्यते, क्वचित् च असदृशो दृश्यते] ।

हिन्दी—प्रकृति का उत्पन्न नूतन होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं होता है । प्रकृति और पुरुष के प्रत्यक्ष न होने में उनका अभाव कारण नहीं है, [अर्थात् प्रकृति और पुरुष नाम की संसार में कोई वस्तु ही नहीं है—तो बात नहीं है] क्योंकि महत्तत्त्व आदि कार्य से उसके कारण प्रकृति की उपलब्धि (ज्ञान) होती है ।

प्रश्न—वह कौन-सा प्रकृति का कार्य है जिस कार्य से उसके कारण प्रकृति का ज्ञान होता है ?

उत्तर—“महदादि तच्च कार्यम्” महत्तत्त्व आदि वह कार्य है, जो कि कुछ कार्य प्रकृति के सजातीय (समान धर्मवाला) है और कुछ विजातीय (विरुद्ध धर्मवाला) है । यह सजात्य (साधर्म्य) और वैजात्य (वैधर्म्य) भागे १०-११ कारिका में बताया जायगा ॥ ८ ॥

सत्कार्यवाद

सत्कार्यवादे सन्ति विप्रतिपत्तयः । यथा शून्यतत्त्ववादिनो माध्यमिका चेनष्टाद् बीजाद् अङ्कुरोत्पत्तिं दृष्ट्वा कथयन्ति यद् यथा बीजध्वंसः अङ्कुरं प्रति कारणम्, यथा वा मृत्पिण्डध्वंसो घटं प्रति कारणम्, यथा तूलिकाध्वंसः पटं प्रति कारणम्, एवमेव हि शून्यात्मकं तत्त्वं इदं चराचरं जगदुत्पादयति, अर्थात् शून्यतत्त्वत एव सर्वमिदं जगदुत्पद्यते, अतः असत्कारणात् सत्कार्यं जायते ।

वेदान्तिनश्च एकत्वं सदब्रह्मणो विवर्तजातम् असज्जगदिति कथयन्ति तथा-वैतन्मते सतीऽसज्जायते ।

नैयायिका वैशेषिकाश्च सत एव परमाण्वादिभ्योऽसदघटादिकमुत्पद्यते इति वदन्ति, तथा चैतेषां मते उत्पत्तेः पूर्वं घटादिकार्यमात्रमसदेवेति भावः ।

सांख्या वस्तुसद्भावाः प्रकृतेः महदादिकार्यमपि सदेवोत्पद्यते इति वदन्ति । अतः उत्पत्तेः पूर्वमपि । एवं सदेवेति साधयन्ति द्वैतपञ्चकानुमानेन—असदकरणात् ।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥६॥

गो०—‘यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधानं सद्गुणहोस्विदसत्’ आचार्यं विप्रनिपत्तेरयं सशयः ।^१ यतोऽत्र साध्यदर्शने सत्कार्यं, बोद्धादीनामसत्कार्यम्, ‘यदि सदस्यं भवत्ययासत्स्यं भवतीति विप्रतिपेद्य’ । तत्राह—असदकरणात् । न सदसतोऽकरणं तस्मात्सत्कार्यम्, इह लोकेऽस्तत्करणं नास्ति, यथा सिक्ताभ्यस्तंलोत्पत्तिः, तस्मात् सतः वरणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्, अतः सत्कार्यम् । किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात् उपादानकारणं तस्य ग्रहणात्, इह लोके यो येनार्थो स तदुपादानग्रहणं करोति दध्यर्थो धीरस्य न तु जनस्य तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च सर्वसम्भवाभावात्, सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुवर्णस्य—अस्तादौ तृणपाशुसिक्ताभ्यु^२ । तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत् कार्यम् । इतश्च शक्तस्य शक्यकारणात् इह कुलालः शक्तो मृददण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणापकरणं वा शक्यमेव घटं मृत्विण्मादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च कारणभावाच्च सत्कार्यम् । कारणं यत्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेष्मा यवा, व्रीहिभ्यो व्रीहयः यदाऽसत्कार्यं स्यात् ततः कोद्वेष्म शालयः स्युः च^३ सन्तीति तस्मात् सत्कार्यम् । एव पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादिलिङ्गमस्ति, तस्मात् सतः उत्पत्तिर्नास्ति इति ॥ ९ ॥

अन्वयः—कार्यम्, सत्, असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य शक्यकारणात्, कारणभावाच्च ।

व्याख्या—कार्यम् = महदादिब्रह्माण्डान्तं ‘समस्तं’ कार्यम् । सत् = उत्पत्तेः ‘पूर्वमपि’ सत्तावत् । कुत असदकरणात् असतः = शशशृङ्गादिस्पर्शकार्यस्य, अकरणत्वं = उत्पत्त्यसम्भवात् (अर्थात् ‘जैसे’ शशशृङ्गादिरूपं असत् कार्यं वा कोई कारण (उत्पत्ति करने वाला) नहीं देखा जाता है वैसे ही उत्पत्ति के पूर्व

१ आचार्यविप्रनिपत्तिमेवाह यत्र इति । विप्रनिपत्तिबीजं प्रदर्शयन्नाह पूर्वार्था—यदीति ।

२ अत्र चराराजोक्तिः, अथवा तल्लभ्येति ज्ञेयोऽत्र कर्तव्यः ।

३ न भवतीत्यर्थः ।

मे यदि कार्यं को असत् माना जायगा तो उसका भी कोई उत्पादक कारण (कारण) सिद्ध न हो सकेगा) (अतः 'कार्यम् उत्पत्तेः पूर्वमपि सदेवेत्यर्थः)

कार्यस्य सत्त्वसाधकं हेत्वन्तरमप्याह—उपादानग्रहणात् = उपादानानि = कारणानि, तेषां ग्रहणं = कार्येण सह सम्बन्धः । तथा च सत् एव कार्यस्य करणैः सह सम्बन्धो भवितुमर्हति न असत् इति भावः । उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य अस्तित्व-साधकं तृतीयं हेतुमाह—सर्वसम्भवाभावात् = सर्वस्मिन् कारणे सर्वकार्यस्य सम्भव इति सर्वसम्भवः तदभावात् इति सर्वसम्भवाभावात् = सर्वस्मिन् सर्वेषां कार्याणाम् उत्पत्त्यवशंतात् इत्यर्थः । [अर्थात् सब कार्य सब कारणों से उत्पन्न होते हुए देखने में नहीं आते हैं किन्तु जिन कारणों में जिन कारणों का सम्बन्ध देखा जाता है उन्हीं कारणों से कार्योंत्पत्ति के पश्चात् जैसे सत् मानते हो ऐसे ही उत्पत्ति के पूर्व भी सत् मानना चाहिये ऐसा साध्य का कहना है] ।

उत्पत्तेः पूर्वं कार्यं सदेवेति प्रदर्शयितुं चतुर्थं हेतुमाह—शक्तस्य शक्यकरणात् यत् कारणं यादृशकार्योत्पादने शक्तं भवति तत् 'कारणं' स्वीयशक्त्याश्रयीभूतस्य (शक्यस्य) कार्यस्य 'करण' (असाधारणं कारणं) भवतीति भावः । उत्पत्तेः पूर्वं यदि कार्यम् असत् स्यात्तर्हि कारणनिरूपिता शक्तिस्तस्मिन् असति कार्यं कथं स्यात्—अत उत्पत्तेः पश्चादिव उत्पत्तेः पूर्वमपि कार्यं सदेव स्वीकार्यम् ।

सत्कार्यं साधयितुमिदानीं पञ्चमं हेतुमाह—“कारणभावादिव” कारणभावादित्यत्र कारणस्य यो भावस्तादात्म्यं तस्मात्, कारणात्मकत्वादित्यर्थः । अर्थात् कार्यस्य कारणस्वरूपत्वात् तथा च कारणं यदि सत् तदा कार्यमपि सदेव स्वीकार्यम् उत्पत्तेः पूर्वं यदि कार्यम् असत् स्यात् तर्हि सत्ता कारणेन सह असत्-कार्यस्य कथं तादात्म्यं स्यात् ? अतः उत्पत्तेः पूर्वमपि कार्यं सदेव स्वीकार्यम् ।

हिन्दी—“असदकरणात्” = साध्यवालो ने उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य को सत् ही माना है । कार्य को सर्वथा सत् सिद्ध करने वाले हेतु पाँच हैं । जिनमें प्रथम हेतु “असदकरणात्” है । “असदकरणात्” का अर्थ है कि: असत् कार्य का कोई भी कारण नहीं होता है, जैसे गन्धर्व-आकाशकमल—बन्ध्यापुत्र—शशविषाण—कूर्मरोम आदि असत् पदार्थों का कोई भी कारण देखने में नहीं आता है, अतः कारण के व्यापार के पश्चात् कार्य को जैसे सत् माना जाता है ऐसे ही उसके पूर्व भी कार्य को सत् ही मानना चाहिये ।

प्रश्न—कार्य यदि उत्पत्ति के पहले भी सत् अर्थात् मौजूद है तब कारण व्यापार ने क्या किया, अर्थात् उसके लिये कारण व्यापार ही व्यर्थ है।

उत्तर—कार्य सर्वथा सत् ही है—परन्तु कारण व्यापार के पूर्व वह अभिव्यक्त रूप से नहीं है इसलिये केवल कार्य की अभिव्यक्ति के लिए ही कारण व्यापार की आवश्यकता है। जैसे—धानरूप कारण के अन्दर चावल कार्य के रूपमें मौजूद होने हुए भी धानरूप कारण का बूटनात्मक व्यापार आवश्यक होता है। एव तिलरूप कारण के अन्दर तैलरूप कार्य के वर्तमान होते हुए भी तिलरूप कारण ने पीड़नात्मक व्यापार की आवश्यकता होती है।

“उपादानग्रहणात् = उपादान (कारण) का ग्रहण = कार्य के साथ सम्बन्ध होने से कार्य सत् ही है। अभिप्राय यह है कि कार्य से सम्बद्ध कारण ही कार्य के उत्पादन करने में समर्थ होता है। जैसे—तैलरूप कार्य से सम्बद्ध होना हुआ ही तिलात्मक कारण अपने तैलरूप कार्य का उत्पादक होता है। सम्बन्ध तो असत् कार्य का कारण ने साथ कथमपि हो ही नहीं सकता है अतः उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य को सत् ही मानना चाहिये।

“सर्वसम्भवाभावात्” = सब कार्यों का सम्भव (उत्पत्ति) सब कारणों से नहीं हो पाना है किन्तु कारण के साथ सम्बन्धित होकर ही कार्योंत्पत्ति देखने में आती है, अर्थात् जिस कारण के साथ जिस कार्य का सम्बन्ध होता है उसी कारण से उस कार्य की उत्पत्ति होती है, असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति कारण से नहीं होती है, कारण की ऐसा होने पर तन्तुओं से घट की, मृत्तिका से पट की उत्पत्ति होनी चाहिये, इसलिये यह कहना होगा कि जिस कारण का जिस कार्य के साथ सम्बन्ध होता है वह कारण अपने उसी सम्बद्ध कार्य को उत्पन्न कर सकता है असम्बद्ध को नहीं और सम्बद्ध सत् कार्य ही का होता है अतः कार्य को उत्पत्ति के पूर्व भी सत् ही मानना होगा।

‘शक्त्य शक्यकारणात्’ = जिस कार्य ने उत्पादन में जो कारण शक्त होता है वही कारण शक्य (शक्ति के आश्रयीभूतकार्य) का कारण (असाधारण कारण होता है। जैसे पटात्मक कार्य के उत्पादन में शक्त तन्तु रूप कारण ही अपने पटात्मक शक्य कार्य का कारण देखा जाता है अब यदि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व सर्वथा असत् ही स्वीकार किया जाता है तो उस असत् कार्य में कैसे कारण

निरूपित शक्ति रह सकती है, अतः उत्पत्ति के पूर्व में भी कार्य को सत् ही मानना होगा ।

“कारणभावाच्च”—कारण का भाव = तादात्म्य होने से अर्थात् कार्य के साथ कारण का तादात्म्य होने से अर्थात् कार्य और कारण का अभेद होने से भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है ।

प्रश्न—कार्य और कारण परस्पर अभिन्न है यह कैसे सिद्ध हुआ ?

उत्तर—कार्य और कारण में अभेद इस प्रकार है कि हम देखते हैं कि जैसा कारण होता है वह अपने समान ही कार्य को उत्पन्न करता है—जैसे मनुष्य मनुष्य ही को उत्पन्न करता है, पशु से पशु ही उत्पन्न होता है, एवं गेहूँ से गेहूँ, चने से चना इत्यादि । इसलिये जब कारण सत् है तो उससे अभिन्न कार्य भी उत्पत्ति के पूर्व सत् ही है । अर्थात् उत्पन्न होने के पहिले कार्य-कारण रूप से अपना अस्तित्व रखता है और उत्पत्ति के पश्चात् वह कार्यरूप से मौजूद रहता है ।

पहिले अष्टम कारिका में ‘महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसत्त्वं विरूपम्’ यह कह आये है अब उसी सारूप्य-वैरूप्य को अर्थात् प्रकृति और उसके कार्य के साधर्म्य-वैधर्म्य को बतलाते हैं, जिनमें १०वीं कारिका से वैधर्म्य को बतलाते हैं—

हेतुमदनित्यमध्यापि सक्रियमनेकमाधितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

गौ०—‘प्रकृतिविरूपं सरूपं च यदुक्तं तत् कथमिति’ उच्यते—व्यक्तं महदादि कार्यम् । हेतुमदिति । हेतुरस्यास्ति हेतुमत्, उपादानं हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमत् । व्यक्तं भूतपर्यन्तम्, हेतुमद् बुद्धितत्त्वं प्रधानेन हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण, आकाश शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्, वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्, तेजो रसतन्मात्रेण हेतुमत्, आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्, पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती, एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत् । किञ्चान्यत् अनित्यं, यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते यथा मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः स चानित्यः । किञ्चाव्यापि, असर्वगमित्यर्थः, यथा प्रधानपुरुषो सर्वगतो नैव व्यक्तम् । किञ्चान्यत् सक्रियं, संसारकाले संसरति-त्रयो-

दशविधेन^१ ज्ञेनेन समुक्त सूक्ष्म शरीरमाश्रित्य ससरति, तस्मात् सक्रियम् ।
 किञ्चान्यत्^२ अनेक, बुद्धिरहङ्कार पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहा-
 भूतानि चेति । किञ्चान्यत् आश्रितम्, स्वकारणमाश्रयते, प्रधानाश्रिता बुद्धि,
 बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कार अहङ्काराश्रिताण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पञ्चतन्मा-
 त्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानीति । किञ्च लिङ्ग लययुक्त, लयकाले पञ्चमहाभूतानि
 तन्मात्रेषु लीयन्ते तान्येकादशेन्द्रियं सहाहङ्कारे स च बुद्धौ सा च प्रधाने लय
 यातीति । तथा सावयवम्, अवयवा शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा, तै सह^३ ।
 किञ्च परतन्त्र नात्मन प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धि बुद्धितन्त्रोऽहङ्कार
 अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राण्येन्द्रियाणि च तन्मात्रतन्त्राणि पञ्चमहाभूतानि च ।
 एव परतन्त्र परायण व्याख्यात व्यक्तम् ।

अथाऽव्यक्त व्याख्यास्याम-विपरीतमव्यक्तम् । एतैरेव गुणैर्यथोक्तं-
 विपरीतमव्यक्तम्, हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्, न हि प्रधानात् पर किञ्चिदस्ति, यत प्रधा-
 नस्यानुत्पत्ति, तस्मादहेतुमदव्यक्तम् । तथाऽनित्य च व्यक्त, नित्यमव्यक्तमनुत्पा-
 दत्वाद्, न हि भूतानीदं कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्त^४ प्रधानम् । किञ्चव्यापि
 व्यक्त, व्यापि प्रधान सर्वगतत्वात् । सक्रिय व्यक्तमक्रियमव्यक्त सर्वगतत्वादेव ।
 तथाऽनेक व्यक्तमेक प्रधान कारणत्वाद्, त्रयाणां लकार्ता प्रधानमेक कारण
 तस्मादेक प्रधानम् । तथाश्रित व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वाद्, न हि प्रधानाद्
 किञ्चिदस्ति पर अन्य प्रधान कार्य स्यात् । तथा व्यक्त लिङ्गम्, अलिङ्गमव्यक्त
 नित्यत्वाद्, बहुदादिलिङ्ग प्रलयकाले परस्पर प्रलीयते नैव प्रधान, तस्मादलिङ्ग
 प्रधानम् । तथा सावयव व्यक्त, निरवयवमव्यक्त, न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा
 प्रधाने सन्ति^५ । तथा परतन्त्र व्यक्त, स्वतन्त्रमव्यक्त प्रभवत्यात्मन ॥१०॥

१ बुद्ध्याहङ्कारमनासि प्रीत्याभ्यन्तरकरणानि बुद्धिकर्मभेदेन दशविधानि
 इन्द्रियाणि बाह्याणीत्येव चक्ष्यमाणत्रयोदशकरणेनेत्यर्थः ।

२ प्रतिपुरुष बुद्धयदोता भेदात्पृथिव्याद्यपि शरीरपटादिभेदादनेकविधमेवेति
 मिथ्या ।

३ अवयवावयविसंयोगविशिष्टमिति तत्त्वकीमुदीकारः ।

४ इत्यस्मादेता प्रधानमव्यक्तमुच्यत इत्यर्थः ।

५ पृथिव्यादीनां परस्परसंयोगेऽपि प्रधानस्य न बुद्ध्यादिभिः संयोगेऽस्मादा-
 त्म्यात्, नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्पर संयोगः, अप्राप्तेरभावादिति मिथ्या ।

अन्वयः—व्यक्तम्, हेतुमत्, अनित्यं, अव्यापि, सक्रियम् अनेकम् । आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयवम्, परतन्त्रम्, (भवति) अव्यक्तम्, विपरीतम् ॥ १० ॥

व्याख्या—व्यक्तम्=वट-पटादि सर्वमपि पृथिव्यन्तं पदार्थजातम् । हेतुमत्=हेतुः=कारणम्, तद्वत् । अर्थात् 'उपादानकारणवदित्यर्थः । अनित्यम्=विनाशि । अव्यापि=अव्यापकम् । सक्रियम्=क्रियावत् । अनेकम्=अनेकविधम् । आश्रितम् स्वकारणाश्रितम् । लिङ्गम्=लय 'गच्छतीति' लिङ्गम्, लयशीलमित्यर्थः । [यथा पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीनानि भवन्ति, तन्मात्राणि 'च' स्वकारणोऽहंकारे, अहंकारश्च महति, महोश्च प्रकृतौ प्रविलीयते] । सावयवम्=अवयवानाम् अवयविनाञ्च यः परस्परं संयोगः स एव अवयवः, तेन सहितमिति सावयवम्=संयोग-मित्यर्थः । परतन्त्रम्=परापेक्षि (दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला) । (भवति) ।

अव्यक्ते व्यक्तस्य वैधर्म्यमाह—'विपरीतमव्यक्तमित्यादिना' अर्थात् व्यक्ते ये धर्मा वर्तन्ते अव्यक्त तद्विपरीतधर्मवद् भवति, यथा अहेतुमत्-नित्यम्-व्यापकम् निष्क्रियम्-अनाश्रितम्-अलिङ्गम्-निरवयवम्-स्वतन्त्रञ्च ।

हिन्दी—अव्यक्त जो प्रकृति है—और व्यक्त जो प्रकृति का कार्य वह समस्त धराचर जगत् है—इन दोनों का साधर्म्य और वैधर्म्य विवेकज्ञान के होने में उपयोगी है अतः इस कारिका से व्यक्त पदार्थों का साधर्म्य और अव्यक्त का उससे वैधर्म्य केवल बतला रहे हैं—अर्थात् समस्त व्यक्त पदार्थ हेतुवाले (कारणवाले) हैं, इसीलिये अनित्य विनाशि हैं, अतएव सक्रिय हैं अर्थात् क्रियाशील हैं—वह क्रिया उनमें स्वयं ही अथवा दूसरे के द्वारा हो । समस्त व्यक्त पदार्थ अव्यापक (अव्यापि) है । अनेक हैं । आश्रित है । अर्थात् अपने २ कारण के आश्रित हैं । इसीलिये लिङ्ग अर्थात् प्रलयकाल में अपने २ कारण में लीन होने वाले हैं जैसे पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्राओं में, और पञ्चतन्मात्राएँ और ११ इन्द्रियाँ अपने कारण अहंकार में इत्यादि । सावयव (अवयववाले) हैं । और परतन्त्र हैं अर्थात् अपने-अपने कारण की अपेक्षा रखने वाले हैं ।

और अव्यक्त इनके विरुद्ध धर्म वाला है अर्थात् वह हेतुमान् नहीं है अपितु 'अहेतुमान्' है, 'नित्य' है, 'व्यापक' है, 'निष्क्रिय' है, 'एक' है, वह 'अनाश्रित' है अर्थात् अव्यक्त का कोई कारण ही नहीं है जिसके आश्रित हो, और कारणरहित

होने से ही वह 'अलिङ्ग' (लयरहित) है—क्योंकि कार्य का लय अपने कारण ही में होना है । 'निरवयव' है, 'स्वतन्त्र' है ॥ १० ॥

अब व्यक्त और अव्यक्त का परस्पर में साधर्म्य, और पुरुष से इनका वैधर्म्य बतलाते हैं—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

गौ०—एव व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते^१ यदुक्तं 'सरूपम्' । त्रिगुण व्यक्त, सत्त्वरजस्तमासि त्रयो गुणा यस्येति । अविवेकि व्यक्त न विवेकोऽभ्यास्तीति, इह व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्च इति यथा, ये गुणास्नद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते च गुणा इति । तथा विषयो व्यक्त, भोग्यमित्यर्थं सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात् । तथा सामान्य व्यक्त, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात् । अचेतन व्यक्त, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थं । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं तद् यथा-बुद्ध्येरहङ्कारं प्रसूयते तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । एवमेते व्यक्तधर्मा प्रसवधर्मन्ता उक्ता, एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति । तत्र त्रिगुण व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं यत्सर्वतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्, इह यदात्मककारणं तदात्मकं कार्यमिति, यथा कृष्णतन्तुकृतं कृष्ण एव पटो भवति । तथाऽविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते अन्ये गुणा अन्यत् प्रधानमेव विवेक्तुं न याति नदविवेकि प्रधानम् । तथा विषयो व्यक्तं प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वात् विषय इति । तथा सामान्य व्यक्तं प्रधानमपि, सर्वसाधारणत्वात् । तथाऽचेतन व्यक्तं प्रधानमपि सुखदुःखमोहान् न चेतयतीति, कथम् ? अनुमीयते—इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानमपि प्रसवधर्मि यत् प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते । एव प्रधानमपि व्याख्यातम् ।

इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते । तद्विपरीतस्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतं पुमान् । नद् यथा त्रिगुण व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणं पुरुषं । अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च विवेकी पुरुषः । तथा विषयो व्यक्तमव्यक्तं

च, विषयः पुरुषः । तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः । अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः, सुखदुःखमोहांश्वेतयति सञ्जानीते तस्मान्चेतनः पुरुष इति । प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि कश्चित् पुरुषात् प्रसूयते । तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति^१ तदुक्तं तथा च पुमान् इति । तत् पूर्वस्यामार्याणां प्रधानमहेतुमद् यथा व्याख्यातं तथा च पुमान्, तद् यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद् व्यक्तमहेतुमद् प्रधानं, तथा च पुमानहेतुमान् अनुत्पाद्यत्वात् । अनित्यं व्यक्तं नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान् । अव्यापि व्यक्तं व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमाद्, सर्वगतत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव । अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः^२ । आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं तथा च पुमाननाश्रितः लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तथा च पुमानप्यलिङ्गः—न नवचित्स्लीपत इति । सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तं तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति । किंच परतन्त्रं व्यक्तं स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः ॥११॥

अन्वयः—व्यक्तम्, तथा, प्रधानम्, त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि (भवति) तथा च, पुमान्, तद्विपरीतः, भवति ।

व्याख्या—व्यक्तम् = समस्तं चराचरात्मकं जगत् । तथा = तथैव च । प्रधानम् = प्रकृतिरपि, एतद्द्वयमेवेत्यर्थः । त्रिगुणम् = सुख-दुःखमोहरूपत्रिगुणवत् । अविवेकि = विवेकहीनम् । विषयः = उपभोगसाधनम् । सामान्यम् = सर्वपुरुषसाधारणम् । अचेतनम् = जडत्वभावम् । प्रसवधर्मि = प्रतिक्षणं परिणामि, कार्योत्पादनशालीत्यर्थः ।

हिन्दी—इस कारिका से व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य तथा उनसे पुरुष का वैधर्म्य बतलाया जा रहा है—महत्त्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त समस्त व्यक्त

१. अत्र व्यक्ताव्यक्ताभ्यां वैधर्म्यमभिधायान्व्यक्तसाधर्म्यमाहेति अपेक्षितम् एतदेव विवृणोति—सदिति ।

२. एक इति, चिन्त्यमिदं पुरुषबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा चैकत्वं विहाय अहेतुमत्त्वनित्यत्वव्यापकत्वनिक्रियत्वानाश्रितत्वालिट्वनिरवयवत्वस्वतन्त्रत्वादिधर्मवत्त्वेन पुरुषस्य प्रधानसाधर्म्यमनेकत्वं च व्यक्तसाधर्म्यमिति अत्र व्याख्या युक्तेति विभावनीयम् ।

पदार्थ तथा अव्यक्त (प्रकृति) ये दोनों ही 'त्रिगुण'—अर्थात् सत्त्व रज-तम इन तीन गुणों से युक्त हैं। एवं 'अविवेकि' अर्थात् यह घट है—यह पट है इत्यादि ज्ञानशून्य हैं क्योंकि दोनों जड़ हैं। तथा 'विषय' हैं अर्थात् उपभोग के साधन हैं जैसे घट-पट आदि पदार्थ सब के उपभोग के साधन ह वैसे ही प्रकृति भी पुरुष के उपभोग का साधन है क्योंकि पुरुष प्रकृति का उपभोग करता है। 'सामान्य' हैं, सबपुरुष साधारण हैं—अर्थात् सब पुरुषों से भाग्य है। अचेतन=जड़ स्वभाव वाले हैं। 'प्रसवर्धनि' प्रनिक्षण परिणामशाली हैं, जैसे मिट्टी घटरूप से तन्तु पटरूप से परिणत होते रहते हैं ऐसे ही प्रकृति भी महदाकारेण परिणत होती है।

प्रश्न—यदि यह कहा जाय कि जब अहेतुमत्त्व तथा नित्यत्व यह प्रकृति का साधर्म्य पुरुष में है, और अनेकत्व व्यक्त का साधर्म्य पुरुष में है तब "तद्विपरीत-मन्या च पुमान्" यह ईश्वरकृष्ण का कथन अप्रमाणिक है।

उत्तर—"तथा च" यहाँ पर 'च' शब्द का 'अपि' अर्थ है, अर्थात् अहेतुम-त्वादि यद्यपि अव्यक्त वर्गरह का साधर्म्य पुरुष में है फिर भी अनेगुण्य आदि रूप व्यक्त तथा अव्यक्त का वैधर्म्य भी पुरुष में है ॥११॥

प्रश्न—पूर्वकारिका में व्यक्त और अव्यक्त का 'त्रिगुणत्व' आदि की जो साधर्म्य बतलाया गया है सो उन तीनों गुणों का लक्षण क्या है? तथा उनका प्रयोजन क्या है? और उनका व्यापार क्या है?

प्रोत्पत्तिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमायाः ।

अन्योऽन्याभिभावाश्रयजननमिद्युनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

गी०—एवमेतदव्यक्तपुरुषयो साधर्म्यं व्याख्यात पूर्वस्यामार्यायाम्, व्यक्त-प्रधानयो साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च त्रिगुणमविवेकीत्यादि प्रकृत्यार्यायां व्याख्यानम् । यत्र यदुक्तं 'त्रिगुणमिति व्यक्तमव्यक्त च' तत् के ते गुणा इति तत्स्य-रूपप्रतिपादनायेदमाह—प्रोत्पत्त्यात्मका अप्रोत्पत्त्यात्मका विषादात्मकाश्च, गुणा सत्त्व-रजस्तमासीत्यर्थः । तत्र प्रोत्पत्त्यात्मक मत्त्व, प्रोत्ति सुख तदात्मकमिति । अप्रोत्पत्त्यात्मक रज, अप्रोत्तिदुःखम् । विषादात्मक तम, विषादो मोह । तथा प्रकाशप्रवृत्तिनिय

१ अत्र प्रकृत्यार्यायामिति युक्तं पाठः, अथवा प्रकृतिसम्बन्धियामित्यर्थे-नायमपि समोचोन एव, प्रकृत्य प्रस्तुत्येति वा ।

मार्गः । अर्थशब्दः सामर्थ्यान्वी, प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः । प्रवृ-
त्त्यर्थं रजः, प्रवृत्तिसमर्थमित्यर्थः । नियमार्थं तमः स्थितौ समर्थमित्यर्थः । प्रकाश-
क्रियास्थितिशीला गुणा इति । तथाऽन्योन्याभिभवाश्रयजननमिधुनवृत्त-
यश्च । अन्योन्याभिभवाः अन्योन्याश्रयाः अन्योन्यजननाः अन्योन्यमिधुनाः अन्योन्य-
वृत्तयश्च ते तथोक्ताः । अन्योन्याभिभवा इति—अन्योन्यं परस्परमभिभवतीति
‘प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धर्मैराभिभवंति, यथा यदा सत्त्वगुल्फट भवति तदा रजस्तमसो
‘अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते’ यदा रजस्तदा सत्त्वतमसो
अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसो विशादस्वित्पामकेन इति ।
तथाऽन्योन्याश्रयाश्च द्वयणुकवद् गुणाः ।^२ अन्योन्यजननाः—यथा नृत्तिण्डो घटं
जनयति^३ । तथाऽन्योन्यमिधुनाश्च^४ यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिधुनौ तथा
गुणाः । उक्तं च—

अन्योन्यमिधुनाः सर्वे सर्वे सर्वप्रणामिनः । रजसोमिधुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिधुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिधुने ते सत्त्वरजसो उभे । उभयोः सत्त्वरजसोमिधुनं तम उच्यते ॥

नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो बोधलभ्यते ॥

परस्परसहाया इत्यर्थः । अन्योन्यवृत्तयश्च परस्पर वर्तन्ते ‘गुणा गुणेषु वर्तन्त’
इति वचनात् । यथा सुरुषा सुशीला स्त्री तवंसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः,
सैव रागिणां मोहं जनयति, एवं सत्त्वं रजस्तमसोवृत्तिहेतुः । यथा राजा सद्योद-
युक्तः प्रजापालने दृष्टमिष्टहे शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च, एवं
रजः सत्त्वतमसोवृत्तिं जनयति । तथा तमः स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसो-

१. आविर्भवति इदमभिभवावयवद्वयेऽप्यनुपपन्ननीयम् ।

२. यथा द्वयणुका परस्परं परमाध्वाश्रितास्तथैते गुणा अप्रीत्यर्थः । सत्त्वं
प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य प्रकाशयति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवर्तयति, तमः
प्रकाशप्रवृत्तौ आश्रित्य नियमयति, त्रिदण्डचिष्टम्भवदमो वेदितव्या इति माठरः ।

३. अत्र ‘जनन’ गुणानां सदृशरूपः परिणामो ग्राह्यः, सांख्यमते आरम्भ-
रूपस्य तस्यासम्भवादिति बोध्यम् ।

४. अन्योन्यमिधुनवृत्तयः, अविनाभाववृत्तय इति मिश्राः । एतन्मते वृत्ति-
पदस्य द्वेन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यान्योन्याभिभववृत्तय इत्यादिचतुर्णां भेदोदाहरणानि
बोध्यानि ।

वृत्ति जनयन्ति, यथा मेघा स्वभावत्वात् जगत् सुखमुत्पादयन्ति, ते दृष्ट्या कर्षणा कर्षणोद्योग जनयन्ति, विरहिणा मोहम् एवमन्यो यवृत्तयो गुणा ॥ १२॥

अन्वय — गुणा, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका, प्रकाशप्रवृत्तिनियमायां, अन्योन्याभिभववाच्यजननमिधुनवृत्तयश्च, (भवन्ति) ॥ १२ ॥

व्याख्या — गुणा = सत्त्वगुणरजोगुणतमोगुण ये तीनो गुण प्रीति (सुख) अप्रीति (दुःख) विषाद (मोह) स्वरूप हैं, और उनसे सत्त्वगुण का प्रयोजन प्रकाश करना है, अर्थात् सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दुर्बल बनाकर अपने घट पट आदि के प्रकाशात्मक (ज्ञानरूप) कार्य को सम्पन्न करता है । क्योंकि घट पट आदि विषयों का ज्ञान कराता ही सत्त्वगुण का प्रयोजन है और विभिन्न कार्यों के करने में प्रवृत्तिशील बना देना रजोगुण का प्रयोजन है तथा कार्य करते हुये व्यक्ति को विधाय गाने के लिये रोक देना यह तमोगुण का प्रयोजन है और इसके अनिश्चित ये तीनों गुण अपने २ कार्य को सम्पन्न करने के लिये परस्पर में अपने से इनर दो गुणोंको अभिभूत कर देते हैं । अतः वहाँ इनका अभिभव ही व्यापार हो जाता है, जैसे सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत कर करके अपने प्रकाशरूप कार्य का सम्पन्न करता है । इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्वगुण-तमोगुण इन दोनों को अभिभूत करके ही अपने प्रवृत्तिरूप कार्य का सम्पादन करता है । तथा वैसे ही तमोगुण को भी दूसरे दोनों गुणों को दबाकर

हिन्दी — सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण ये तीनो गुण प्रीति (सुख) अप्रीति (दुःख) विषाद (मोह) स्वरूप हैं, और उनसे सत्त्वगुण का प्रयोजन प्रकाश करना है, अर्थात् सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दुर्बल बनाकर अपने घट पट आदि के प्रकाशात्मक (ज्ञानरूप) कार्य को सम्पन्न करता है । क्योंकि घट पट आदि विषयों का ज्ञान कराता ही सत्त्वगुण का प्रयोजन है और विभिन्न कार्यों के करने में प्रवृत्तिशील बना देना रजोगुण का प्रयोजन है तथा कार्य करते हुये व्यक्ति को विधाय गाने के लिये रोक देना यह तमोगुण का प्रयोजन है और इसके अनिश्चित ये तीनों गुण अपने २ कार्य को सम्पन्न करने के लिये परस्पर में अपने से इनर दो गुणोंको अभिभूत कर देते हैं । अतः वहाँ इनका अभिभव ही व्यापार हो जाता है, जैसे सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत कर करके अपने प्रकाशरूप कार्य का सम्पन्न करता है । इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्वगुण-तमोगुण इन दोनों को अभिभूत करके ही अपने प्रवृत्तिरूप कार्य का सम्पादन करता है । तथा वैसे ही तमोगुण को भी दूसरे दोनों गुणों को दबाकर

ही अपने नियमन (प्रवृत्ति प्रबन्ध) रूप कार्य को सम्पन्न करना होता है इस-
लिए यह इनका 'अभिनव' रूप व्यापार (वृत्ति) हो जाता है ।

और इनमें से प्रत्येक गुण को अपने २ कार्य को सम्पन्न करने के लिए
दूसरे दो गुणों का सहारा लेना पड़ता है यह इनका "अन्योन्याश्रय" व्यापार है ।

और इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण अपने से इतर दो गुणों को निर्बल
बनाकर ही अपने २ कार्य का जनन कर पाते हैं, इसलिये ये तीनों गुण अन्यो-
न्यजननरूप व्यापार वाले भी हैं ।

तथा ये तीनों गुण परस्पर में मिल जुलकर पति पत्नी के समान अपने २
कार्य का सम्पादन करते हैं अतः आपस में मिलजुलकर कार्य करना ही इनका
"अन्योन्यमिथुन" व्यापार कहलाता है । जिस प्रकार संसार में स्त्री-पुरुष मिथुन
के द्वारा पुत्रादिरूप कार्य का उत्पादन करते हैं उसी प्रकार ये भी मिथुनीभूत
होकर ही सृष्टिरूप कार्य को उत्पन्न करते हैं ॥ १२ ॥

अब प्रश्न यह होता है कि पूर्व में व्यक्त-अव्यक्त का "त्रिगुणत्व" साधर्म्य
बतलाया और उन तीनों गुणों के प्रकाश प्रवृत्ति-नियम ये तीन प्रयोजन बतलाये
ये । तो वे तीन गुण कौन २ हैं, और उनमें किसका कौन २ प्रयोजन है ? तथा
अपने २ व्यापार का संपादन किस प्रकार से करते हैं ?

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।

गुरु वरणकमेव तम, प्रदीपवच्चार्णतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

गौ०—किञ्चान्यद्-सत्त्वं लघु प्रकाशकं च, यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा
लघुत्वाद्भ्रान्तिरिति बुद्धिप्रकाशश्च प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति, उपष्टम्भकं चलं च रजः,
उपष्टम्भातीत्युपष्टम्भकमुद्वोतकं, यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति
एवं रजोवृत्तिः । तथा रजश्च चलं दृष्टं, रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति । गुरु
वरणकमेव तमः, यदा तम उत्कटं भवति तदा गुरुण्यङ्गान्यावृत्तानीन्द्रियाणि
भवन्ति स्वार्थासमर्थानि, अवाह^१ 'यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः स्वमतेनैव कमर्थं
निष्पादयन्ति, तर्हि कथं ?'^२ प्रदीपवच्चार्णतो वृत्तिः, प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्

१. पूर्वपक्षीत्यर्थः ।

२. समाधत्ते—प्रदीपवदिति ।

अर्थान् १ राधना वृत्तिरिष्टा, यथा प्रदीप परस्परविषद्वैतलाग्निवृत्तियोगा
दर्थप्रकाशान् जनयति एव सत्त्वगुणस्मात्ति परस्पर विषद्वैतार्थं निष्पादयति ।

अन्वय — सत्त्वम् लघु, प्रकाशकम्, (साध्यं) इष्टम् रज उपष्टम्भकम्,
चलञ्च, (इष्टम्) तम गुरु, वरणकमेव, (इष्टम्) (एतेषां) वृत्ति, अर्थत,
प्रदीपवत् (वर्तते) ॥ ११ ॥

व्याख्या—सत्त्वम्=सत्त्वगुण । लघु=लघुस्वभावम् । तवियत को हटाने
बनाने तथा रखने वाला । प्रकाशकम्=घट-पट-आदिविषयप्रकाशकम् । साध्यं
इष्टम्=अभिमतम् । रज = रजोगुण । उपष्टम्भकम्=तत्तत्कार्येषु प्रवृत्तिप्रयोज
कम् । च । चलम्=सक्रियम् । (माध्यं) इष्टम्=स्वीकृतम् । तम =
तमोगुण । गुरुस्वभावम् (तवियत को भारी बनाने तथा रखने वाला) । वरण-
कम्=आवरणशालि प्रवृत्ति-विरोधि (साध्यं स्वीकृतम्) । शङ्कते यत् परस्पर
विरोधशीला गुणा कथं मिलित्वा स्वस्वकार्यं कर्तुं प्रभविव्यन्ति इत्यत आह—
“प्रदीपवच्चक्षयन” (एतेषां त्रयाणां गुणानाम्) वृत्ति=प्रवृत्ति । अर्थत । पुरु-
षायन । प्रदीपवत् अर्थात् वृत्तितैलानय परस्पर विरोधशीला अपि मिलित्वा
स्वीय प्रकाशस्वरूप कार्यं प्रकुर्वन्ति यथा वा वातपित्तश्लेष्माण परस्पर विरो-
धिनोऽपि शरीरस्वाम्यसम्प्रादनात्मक कार्यं कुर्वन्ति तथैव परस्पर विरोधिनोऽपि
इमे त्रयो गुणा अन्धान् मिलित्वा भोगापवर्गरूपं पुरुषार्थं सम्पादयन्ति ॥ ११ ॥

हिन्दी—सत्त्वगुण लघु है अर्थात् शरीर भस्तिष्क तथा इन्द्रियां आदिको
को हटाना रखने वाला है । तथा घट-पट आदि समस्त विषयों का प्रकाश
कराने वाला है अर्थात् सत्त्वगुण के आधिक्य होने पर इन्द्रियां अटिति विषय का
ग्रहण कर लेती हैं । इसलिये साध्यमन में सत्त्वगुण के ‘लघुत्व’ और ‘प्रकाश-
कत्व’ ये दो लक्षण बन जाते हैं ।

और रजोगुण उपष्टम्भक अर्थात् प्रवृत्ति का कारण तथा चल अर्थात् चला-
त्मक और क्रियावाना होता है अतः उपष्टम्भकत्व (प्रवर्तकत्व) तथा सक्रि-
यत्व रजोगुण के लक्षण हुये ।

तथा तमोगुण तो शरीर-इन्द्रिय-भस्तिष्क आदि में गुरुत्व (भारीपन) होने
के कारण, तथा किसी भी प्रकार के कार्य की रुकावट होने में कारण माना है ।
क्योंकि शरीर आदि में भारीपन तथा कायमात्र की रुकावट एकमात्र आलस्यजन्य

है और आलस्य तमोगुणजन्य है। अतः गुस्त्वप्रतिबन्धकत्व ये तमोगुण के लक्षण हुये।

अब प्रश्न यह होता है कि परस्पर में विरोधी स्वभाववाले ये तीनों गुण आपस में मिलकर किसी भी कार्य को कैसे सम्पन्न कर सकेंगे ?

उत्तर—जिस प्रकार दीपक के अन्दर वत्ती-तेल-अग्नि ये तीनों परस्पर में विरोधी होते हुए भी आपस में मिलकर प्रकाशरूप कार्य को सपन्न करते हैं उसी प्रकार ये तीनों गुण आपस में मिलकर ही भोगापवर्गरूप कार्य को करते हैं॥१३॥

प्रश्न—११ वीं कारिका में कथित अविवेकित्व विषयत्व अचेतनत्व आदि धर्मों को सिद्ध प्रकृति में कैसे हुयी ?

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।

कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

गौ०—अन्तरप्रश्नो भवति—‘त्रिगुणमविवेकि विषय’ इत्यादिना प्रधानं व्यक्तं च व्याख्यातं, तत्र प्रधानमुपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते ?’ तत्राह—योऽयमविवेक्यादिगुणः स त्रैगुण्यात् । ‘महदादौ व्यक्तेनायं सिद्धयति’ अर्थाच्च तद्विपर्ययाभावात्, तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययस्तस्याभावस्तद्विपर्ययाभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्^१ । यथा यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ? तद्विपर्ययाभावात् । एवं व्यक्ताव्यक्तसम्बन्धो भवति^२, इतर प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभावात् । इताश्चाव्यक्तं सिद्ध कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य, लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति । एवं महदादिलिङ्गमविवेकि विषयः सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि, यदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

अन्वयः—अविवेक्यादेः, सिद्धिः, त्रैगुण्यात्, तद्विपर्ययाभावात् (भवति) कार्यस्य, कारणगुणात्मकत्वात्, अव्यक्तमपि, सिद्धम् ।

व्याख्या—अविवेक्यादेः=अविवेकित्वादिधर्मस्य । सिद्धिः=निश्चयः । त्रैगुण्यात्=त्रिगुणत्वरूपहेतुतः, (त्रैगुण्यरूपहेतुकानुमानात्) भवति इति शेषः । (अनुमान-च-

१. त्रैगुण्याभावाद् अव्यक्तमविवेक्यादिगुणवदिति सिद्धमित्यर्थः ।

२. अविवेक्यादिगुण इति शेषः ।

प्रधानम् (अव्यक्तम्) ' अविवेकित्वादधिभवत्—सुख-दुःख-मोहात्मकत्रैगुण्यात् घटादिवत् यत्र २ सुख-दुःख-मोहात्मक त्रैगुण्य वर्तते तत्र २ अविवेकित्वादधिर्भावो भविष्यति यथा घट पटादिव्यक्तोपु ।)

व्यतिरेकव्याप्तिमपि दर्शयति "तद्विपर्ययाभावात्" तन्व्य=अविवेकित्वादि-साध्यरूपधर्मस्य, विपर्ययो यत्र (पुरुषे) तत्र त्रैगुण्यरूपहेतोरपि अभावो वर्तते । अर्थात् यत्र अविवेकित्वादिरूप साध्य नास्ति तत्र त्रैगुण्यरूपहेतुरपि नास्ति यथा पुरुषे । तथा च इदमनुमान सपक्षम् "अन्यथाव्यक्ते अविवेकित्वादधिर्भावो त्रैगुण्यात् धर्मेव तन्मेव यथा पुरुष" इति व्यतिरेक्यनुमानां अपि अविवेकित्वादधिर्भावा सिद्धिर्बोद्धव्या ।

ननु अव्यक्तमेव तु नेदानीं सिद्धम्—कुतस्तत्राऽविवेकित्वादधिर्भावा सिद्धि र्स्यात्, अत आह—कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य । अर्थात् कार्यस्य = घट-पटादि-रूपमहत्त्वपर्यन्तकार्यस्य । कारणगुणात्मकत्वात्=कारणगुणानुरूपत्वात्, अर्थात् यादृश कारण भवति तादृशमेव कार्यं ननु समुत्पद्यते इति लोके दृश्यते, यथा मृत्तिकारूपकारणतः मृग्य एव घटः समुत्पद्यते न तु सौवर्णो घटः, एव तन्तुरूप-कारणेभ्यः घट एवोत्पद्यते नापि घटः, तत्रापि रक्ततन्तुभ्यो रक्तघट एवोत्पद्यते न तु शुक्ल घटः । एव सुखदुःखमोहात्त्रैगुणात्मकस्य कार्यस्य कारणमपि त्रैगुणात्मकमेव भवितुमर्हति—तच्च कारणम् अव्यक्तमेवेति भावः । तदेवोक्तम्—अव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१॥

हिन्दी—अव्यक्त (प्रकृति) में "अविवेकित्व-विषयत्व-सामान्यत्व अचेतनत्व-प्रसवधर्मित्व' इन धर्मों की सिद्धि त्रैगुण्यहेतु से (त्रैगुण्यहेतुकारणानुमान से) होती है । अर्थात् "यत्र २ त्रैगुण्य तत्र २ अविवेकित्वादधो धर्मा" जैसे घट-पट आदि में, यहाँ यह अन्वयव्याप्ति है और इस अन्वयव्याप्ति के आधार पर यह अनुमान सम्पन्न हो जाता है कि—अव्यक्त अविवेकित्व-विषयत्व-आदि धर्मों वाला है—त्रैगुण्य होने से घट-पट आदि की तरह ।

यह अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होने के नाने अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेक-व्याप्ति दोनों से साम्य है । अन्वयव्याप्ति बतला चुके अब व्यतिरेकव्याप्ति को बतलाते हैं—'तद्विपर्ययाभावात्' अर्थात् जहाँ अविवेकित्व विषयत्व आदि साध्यस्वरूपधर्मों का विपर्यय (अभाव) है वहाँ त्रैगुण्य का भी अभाव है, जैसे पुरुष में, अतः व्यक्त और अव्यक्त-त्रैगुण्यरूपहेतुवाली होनेसे अविवेक-विषयत्व-सामान्यत्व आदि

काध्यपरूपधर्मवाले हैं—(यन्मैवं तन्मैवम्) अर्थात् जहाँ अविवेकित्व आदि साध्य-धर्म नहीं हैं वहाँ त्रैगुण्यरूपहेतु भी नहीं है जैसे पुरुष में ।

प्रश्न—अभीतक जब कि अव्यक्त (प्रकृति) ही सिद्ध नहीं हुआ तबतक किन्तुसमें अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि कैसे हो सकती है ।

उत्तर—“कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य” अर्थात् समस्त कार्य घट-पट आदि जिनके लिये कि सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक हैं तब इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिये जो स्वयं भी त्रिगुणात्मक हो—सो इस त्रिगुणात्मक कार्य का जो भी त्रिगुणात्मक कारण है वही अव्यक्त (प्रकृति) है, इस प्रकार से अव्यक्त की भी सिद्धि हो जाती है ॥ १४ ॥

प्रश्न—जब कि परमाणुओं से ही वृक्षपुष्पादिक्रम से पृथ्वी आदि व्यक्त वृष्टिरूप कार्य उत्पन्न हो सकता है तथा कारणगुणक्रम से पृथिवी आदि में रूप रस रूपादि गुण उत्पन्न हो सकते हैं तब तो व्यक्त से ही व्यक्त की उत्पत्ति हो गयी फिर व्यक्तोत्पत्ति के लिये क्या आवश्यकता है अव्यक्त की ?

भेदानां परिमाणात् समन्वयान्धत्तितः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य ॥ १५ ॥

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

गौ०—‘त्रैगुण्याद् विवेकयादिव्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययमाभावात्, एवं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमित्येतन्मिम्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, इति न वाच्यम्, सतोऽपि पापाणगन्धादेरनुपलम्भात्, एवं प्रधानमप्यस्ति किन्तु नोपलभ्यते, तदाह—कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः । भेदानां परिमाणात्—लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं यथा कुलालः परिमितं मृत्पिण्डः परिमितानेव घटान् करोति, एवं महदपि महदादिलिङ्गं परिमितं भेदतः प्रधानकार्यमेका बुद्धिरिकोऽहंकारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहामूतानीत्येवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं यद् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति, यदि प्रधानं न स्यात् तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदा-

नामस्मि प्रधान यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम् । तथा समन्वयात् इह लोके प्रसिद्धि-
दृष्टा, यथा व्रतधारिण वटु दृष्ट्वा समन्वयति^१ नूनमस्य पितरो ब्राह्मणाविति
एवमिदं त्रिगुण महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् कारण^२ भविष्यतीति,
अतः समन्वयादस्ति प्रधानम् । तथा शक्तितः प्रवृत्तेश्च इह यो यस्मिन् शक्त
स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न
पट रथ वा । तथा अस्ति प्रधान कारण, कुत ? कारणकार्यविभागात्—
करोतीति कारणम् क्रियत इति कार्यम् कारणस्य च विभागो यथा—घटो दधि
मधुदधपयसा धारणे समर्थो न तथा तत्कारणं मृत्पिण्ड, मृत्पिण्डा वा घट
निष्पादयति न चैव घटो मृत्पिण्डम्, एव महदालिङ्गं दृष्ट्वानुमीयते—अस्ति
विभक्त तत्कारण यस्य विभाग इदं व्यक्तमिति^३ । इतश्च अविभागाद् वैश्व-
रूपस्य—त्रिरथ जगत् तस्य रूपं व्यक्तं, विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप, तस्यावि-
भागादस्ति प्रधानम्, यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां पर-
स्परं विभागो नास्ति महामूनेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजो वायु
राकाशमिति एतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले मृष्टिक्रमेणैवाविभागं यागति
तन्मात्रेषु परिणामिषु तन्मात्राद्येवाऽशेषेन्द्रियाणि चाहङ्कारे अहङ्कारो बुद्धौ बुद्धि
प्रधाने, एव त्रयो लोका प्रलयकाले प्रकृतावविभागं गच्छन्ति, तन्मात्रविभागाद्
क्षीरदधिवद्^४ व्यक्ताव्यक्तयोरस्यव्यक्तं कारणम् ॥ १५ ॥

१ समानरूप कारण साधयति ।

२ तस्मिन्गुण भविष्यतीत्यर्थः ।

३ कारणे कार्यस्य महदाद्यथा कर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि नि सरन्ति विभज्यन्ते,
एव कारणान्मृत्पिण्डादुद्गमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सत्त्वेवाविर्भवन्ति
विभज्यन्ते, तथा पृथिव्यादीन्यपि तन्मात्रादिरूपकारणादाविर्भवन्ति विभज्यन्त
इति अव्यक्तपर्यन्तं स्वस्वकारणाद्विभाग इति मिथ्या ।

४ प्रसिद्धौ तु मृत्पिण्डं मुक्कं पिण्डं वा घटमुकुटादयो निविशमानास्त्रि-
भवन्ति तत्कारणरूपमेवान्विभज्यन्तकार्याण्यस्यव्यक्तमिति व्यवहियते एव पृथि-
व्यादयोऽपि तन्मात्रादिकारणं विभज्यन्त स्वस्वकारणमव्यक्तमयन्तीति सोऽयमविभागो
वैश्वरूपस्य कार्यस्येति वाचस्पतिमतम् ।

अतश्च अव्यक्तं प्रत्यक्तं कारणमस्ति यस्मान्महदादिलिङ्गं प्रवर्तते । त्रिगुणतः त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम् । तत् किमुक्तं भवति ? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्^१ । तथा समुदयात्, यथा गङ्गा-स्रोतांसि श्रीणि रुद्रमूर्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति, यथा वा तन्तवः समुदिताः पद्मं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते । ^२‘यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्’ । नैप दोषः, परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् । एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेन, तिर्यश्चो मोहेन, एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्त प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद् भवति प्रतिप्रतीतिं वीप्सा, गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषस्तं गुणाश्रयविशेषं प्रति निघाय^३ प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्ततेऽव्यक्तं, यथा—आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद् भिद्यते तत्तद्व-सान्तरैः^४ एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः ॥ १२ ॥

अन्वयः—भेदानाम्, कारणम्, अव्यक्तम्, अस्ति, (श्रुतः) परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्य अविभागात्

१ परिणामस्वभावानां गुणानां क्षणमपि परिणामं विहायावस्थानाजसं-भवात्सत्त्वादिरूपतया प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति मिथ्याः । प्रधाने सत्त्वादीनामवस्थानात् बहुत्वसंभवात्त्रिगुणतः प्रवृत्तिस्त्रिधा व्यवहारोऽत एकस्मात्तन्तोः पटासंभववत्कथमेकं प्रधानमनेककार्यजनकमिति निरस्तमिति माठरः ।

२ शङ्कते यस्मादिति । एकरूपात्कारणात्कथं विविधकार्योत्पत्तिरिति शोकाभिप्रायः । समाधत्ते—नैप इति ।

३ अवलम्ब्य ।

४ नारिकेलतालतालीविल्वचिरविल्वतिन्दुकामलककपित्थफलाभितैस्तत्तद्व-सैरित्यर्थः ।

(तच्च अव्यक्तम्) त्रिगुणतः, समुदयाच्च, प्रवर्तते, प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्, परिणामतः संल्लवत् ॥ १३-१६ ॥

व्याख्या—भेदानाम्=परस्परविभिन्नमहदादिकार्याणाम् । कारणम्=मूल-
भूतमुपादान कारणम् । अव्यक्तम्=प्रकृतिः । अस्ति । (भुन) परिमा-
णात्=परिमितत्वात्-अव्यापित्वात् । अत्रानुमानम्—“महदादयः अर्थात्
महत्तत्त्वादिपृथिव्यन्ताः पदार्थाः अव्यक्तकारणवन्तः—परिमितत्वात्—घट पटादि-
वत्” । समन्ययात्=सुखदुःखमोहात्मसमानरूपवत्त्वात्, अर्थात् महत्तत्त्वादि-
पृथिव्यन्ताः सर्वेऽपि पदार्थाः सुखदुःख-मोहात्मका दृष्ट्या अतस्त्वेतादिविधैर्नैव
तैसा कारणेनापि भविष्यन्ति, तादृशं च कारणम् अव्यक्तमेव, अत्रानुमानम्—
“महदादयः अव्यक्तकारणवन्तः समन्ययात्, सुखदुःखमोहात्मकत्वात्
घटादिवत्” ।

कारणकार्यविभागात्=प्रधानात्मकाव्यक्तरूपकारणात् महदादिभूम्यन्त-
समाप्तकार्याणाम् आविर्भावः—(उत्पत्तिः) रूपविभागदर्शनात् । अर्थात् प्रकृतिरूपा-
व्यक्तकारणत एव महत्तत्त्वादि भूम्यन्ताः सर्वेऽपि कार्यादिभूतपदार्थाः विभज्यन्ते
(उत्पद्यन्ते) इत्येतेषामुत्पादकत्वेन अव्यक्तमवश्यं स्वीकार्यम् ।

वैश्वरूपस्य अविभागात्=वैश्वरूपस्य=जगतः, अविभागात्=तिरोभावात्, अर्थात्
प्रत्येककाले जगतो यस्मिन् कारणं तिरोभावो भवति तदेव अव्यक्तं कारणम् ।

अव्यक्तं साधयित्वा तस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—‘प्रवर्तते त्रिगुणतः’ अर्थात्
अव्यक्तं त्रयाणां गुणानां सदृशरूपेण परिणमते, गुणानां परिणामो हि स्वभावः
अतस्ते छणमप्यपरिणम्य नावतिष्ठन्ते, तथा च प्रलये सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो
रजो रूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रवर्तते, त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था हि
प्रकृतिः ।

‘समुदयाच्च’ सृष्टिकाले इमे त्रयो गुणा मिलित्वा महत्तत्त्वमारभ्य पृथिव्य-
न्तानि समन्तानि कार्याणि कुर्वन्ति । तथा च त्रयो गुणा उपमर्शोपमर्दकभावेन
परस्परं मिलित्वा महदादिरूपेण प्रवर्तन्ते ।

प्रलये स्वप्नरूपेण परिणतानां अर्थात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया
तमस्तमोरूपतया परिणतानाम् अर्थात् एकरूपाणां गुणानां सृष्टिकाले अनेक-
रूपेण प्रवृत्तिर्दृश्यते येन विचित्रं कार्यं भवति तत् कथम् ? अर्थात् एकरूपाणां

गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिः कथमित्यत आह—“परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रति-
गुणाश्रयविशेषात्” अर्थात् गुणानामाश्रयभेदेन परिणामभेदो जायते यथा आकाशात्
पतितं तोयं सर्वथा एकरसमपि वर्तते, परन्तु नानाभूमिविकारनासाद्य नारिकेल-
ताल-विल्व-आमलकेत्यादिपदार्थानां रसः अम्ल-रुचि-कटु-कषाय-तिक्तताद्यनेक-
प्रकारको भवति, तथैव इमेऽपि त्रयो गुणाः परस्परवैषम्यवशात् अनेकस्वभावा
जायन्ते । यथा गुणानां वैषम्यात् देवेषु उत्कृष्टं सत्त्वं भवति, मनुष्येषु रजोगुण
उत्कृष्टो भवति, पक्षिप्रभृतिषु तम उत्कृष्टं भवति, तथा च एवंविध-देव-मनुष्य-
पक्षि-आदि-आश्रयाणां विशेषात् (भेदात्) अनेकस्वभावा गुणा जायन्ते येन
तेषामनेकरूपा प्रवृत्तिर्भवति विचित्रं च कार्यं जायते ॥ १५-१६ ॥

हिन्दी—परस्पर में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले जो भेदस्वरूप
महदादि (महत्तत्त्व आदि) कार्य हैं उनका कोई ‘अव्यक्त’ नाम का कारण
अवश्य है जिसमें कि महदादि रूप कार्य अव्यक्त रूप से रहता है । अव्यक्त का
साधक प्रथम हेतु है ‘परिमाणात्’ जिसका अर्थ सांख्य ने यहाँ परिमित=अव्यापी
याने व्याप्य किया है । अर्थात् जो कारण अपने में कार्य को व्याप्त करके याने
अपने में सन्निविष्ट करके रहे वही ‘अव्यक्त’ है । जैसे घट आदि मिट्टी से बने हुए
पदार्थों का मिट्टी ही अव्यक्त कारण है । क्योंकि घट आदि मिट्टी ही में अव्यक्त
रूप से रहते हैं वैसे ही महत्तत्त्व आदि कार्यों का भी कोई ‘अव्यक्त’ कारण है
जो कि महत् आदि कार्यों को अपने में अव्यक्त रूप से व्याप्त करके रहता है
उसी को ‘प्रकृति’ ‘प्रधान’ इन शब्दों से भी कहा है ।

‘समन्वयात्’ यह अव्यक्त का साधक दूसरा हेतु है । इसका अर्थ है समान-
रूपता, अर्थात् महत्तत्त्व आदि पदार्थ-जैसे सुख-दुःख मोहात्मक हैं इसी प्रकार
अव्यक्त (प्रकृति) भी त्रिगुणात्मक होने के कारण सुख-दुःख-मोहरूप है, क्योंकि
कार्य के अनुरूप ही कारण होता है । वही कारण अव्यक्त (प्रकृति) है ।

‘शक्तितः प्रवृत्तेश्च’ यह तीसरा हेतु है, जिस कारण में जिस कार्य को
उत्पन्न करने की शक्ति होती है उस कारण शक्ति के द्वारा वही कार्य उत्पन्न
होता है, जैसे मिट्टी से घट, तिलों से तैल, सो इसी प्रकार महत्तत्त्व से लेकर
पृथ्वी पर्यन्त समस्त कार्यों को उत्पन्न करने की साक्षात्-परम्परा साधारण शक्ति
का आश्रयीभूत जो कारण है वही अव्यक्त (प्रकृति) है ।

“कारणकार्यविभागात्” समस्त कार्यों का विभाग (आविर्भाव=उत्पत्ति) अपने-अपने कारणों से होती है, जैसे मिट्टी से घट की, तन्तुओं से पट की, इसी प्रकार महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त वार्यों की साक्षात्-परम्परया उत्पत्ति अव्यक्त से होती है अतः उसी अव्यक्त रूप कारण को समस्त चराचर जगत् का कारण साध्य ने माना है ।

“अविभागादवैश्वरूपस्य” महत्तत्त्व से पृथिव्यन्त समस्त कार्य प्रलयकाल में जिस अव्यक्त रूप कारण में अविवर्धन (विलीन) हो जाते हैं वही अव्यक्त रूप कारण प्रकृति है ।

इन पाँच कारणों से अव्यक्त सिद्ध हुआ अब उसकी प्रवृत्ति का प्रकार बतलाते हैं—

“प्रवृत्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च” तीनों गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त कहते हैं और ये तीनों गुण प्रलयकाल में समान रूपसे परिणत होते रहते हैं । जैसे सत्त्व सत्त्वरूप से, रजोगुण रजोरूप से, तम तमोरूप से, क्योंकि गुणों का परिणत होते रहना ही स्वभाव है—बिना परिणाम के ये तीनों गुण एक क्षण भी नहीं रह पाते हैं, अतः प्रलयकाल में अव्यक्त का तीनों गुणों का समानरूप से परिणाम भाव व्यक्ता ही रहता है ।

“समुदयाच्च” और प्रकृति पुरुष का संयोग हो जाने पर इन तीनों गुणों की समानता में विकार उत्पन्न हो जाता है । इसलिए सृष्टिकाल में ये तीनों गुण आपस में मिलकर ही महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त समस्त कार्यों को उत्पन्न कर पाते हैं । और इसी समय इनका जमकर सघर्षात्मक युद्ध भी होता है जिस सघर्ष में एक गुण अपने से इतर दो गुणों का उपमर्दन करता है और उन दो गुणों को उपमर्दित होना पड़ता है । जैसे कई व्यक्ति मिलकर कोई कार्य करते हैं और उसमें सघर्ष उपस्थित हो जाने पर एक व्यक्ति अपनी प्रबल शक्ति के आधार पर इतर व्यक्तियों को दबाकर अपना उल्लू सिद्ध कर ही लेता है । इसी उपमर्द्योपमर्दकभाव के आधार पर होनेवाली गुणों की प्रवृत्ति से सुख-दुःख-मोहादिस्वरूप अनेक विविध कार्य देखने में आते हैं ।

प्रश्न—प्रलयकाल में ये तीनों गुण जबकि अपने २ असली प्रत्येक रूप में स्थिर रहते हैं जैसे सत्त्व-सत्त्वरूप से रजोगुण रजोरूप से, तम तमोरूप से, त

फिर सृष्टिकाल में इनकी अनेक रूपवाली विचित्र प्रवृत्ति क्यों देखने में आती है?

उत्तर — “परिणामतः सलिलवत् प्रति-प्रतिगुणाश्रयविशेषात्” अर्थात् यद्यपि ये तीनों गुण एकरूप हैं फिर भी इन गुणों के आश्रय भिन्न-२ हैं अतः आश्रय-भेद से इनका परिणामभेद देखने में आता है। जैसे देवताओं में तीनों गुणों के होते हुए भी सत्त्वगुण प्रधान होने के नाते वे सात्त्विक कहे जाते हैं, मनुष्यलोग रजोगुण की प्रधानता के कारण राजसिकवृत्ति वाले कहे जाते हैं, इसी प्रकार पक्षियों में तमोगुण की प्रधानता है अतः वे तामसवृत्ति सम्पन्न होते हैं। ऐसे ही एक ही माता से उत्पन्न हुए बालक धिन्न-२ प्रवृत्ति एवं स्वभाव वाले देखने में आते हैं, उसका कारण एकमात्र बालकरूप-आश्रयभेद-प्रयुक्तगुणभेद ही है।

इसी प्रकार आकाश से बिन्दु के रूप में गिरा हुआ जल एकरस होता हुआ भी नाना भूमि विकारों को प्राप्त करके नारियल-ताड़ी-बेल-आंवला आदि पदार्थों के रस में परिणत होता हुआ कहीं खट्टा कहीं मीठा कहीं तीखा अनेक प्रकार का हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति भावतुभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

श्री० — एवमार्याद्वयेन प्रधानस्यास्तित्वमवगम्यते, इत्यत्रोत्तरं पुरुषास्तित्वप्रति-पादनार्थमाह । यदुक्तं ‘व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत’ इति, तत्र व्यक्ता-वनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्, पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याधुनाऽनुमि-तास्तित्वं प्रतिक्रियते ।^१ अस्ति पुरुषः, कस्मात् ? सङ्घातपरार्थत्वात् — योग्यं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, नचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्, यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलरुपादधीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो न हि स्वार्थः, पर्यङ्कस्य न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति, अतोऽवगम्यते-अस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम्^२ इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादि-सङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति । इत्येवात्मास्ति — त्रिगुणादिविपर्ययात् । यदुक्तं पूर्वस्यामार्याणां ‘त्रिगुणमद्विवेकि विषय’ इत्यादि, तस्माद्विपर्ययात्, येनोक्तं

१. अनुमानेनास्तित्वं प्रतिष्ठाप्यत इत्यर्थः ।

२. पर्यङ्कवदिति दृष्टान्ते परार्थत्वं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिके तत्साधयति-इदमिति ।

तद्विपरीतस्तथा च पुमान् । अधिष्ठानात्, यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्पणैर्वै
 मुक्तो रथ सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति^१ तथा
 चोक्तं श्रुतितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठित प्रधान प्रवर्तते । अतोऽस्त्यात्मा-भोक्तृत्वात्
 यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तवपायधर्षोपवृत्तितस्य सयुक्तस्यान्नस्य साध्यते^२
 एव महदादिलिङ्गस्य भोक्तृत्वाभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्य शरीरमिति ।
 इतश्च कथं त्वय्यर्थं प्रवृत्तेऽत्र चैव तस्य भावः कैवल्या तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिन्तम्या
 स्वकैवल्यार्थं प्रवृत्तेः^३ सवाशादनुमीयते—अस्त्यात्मेति, यतः सर्वो विद्वानविद्वान्ना
 ससारमन्तानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीराद् व्यति-
 रिक्तः ॥ १७ ॥

अन्वय—पुरुष अस्ति, सयातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात् अधि-
 ष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः ।

व्याख्या—(यहाँ पर पुरुष पक्ष है—अस्तित्व साध्य है—और पुरुष के अस्तित्व
 को पाँच हेतुओं के द्वारा सिद्ध किया जाता है)—सयातपरार्थत्वात्=सहान्यन्ते=
 एकत्रोभवन्ति, सुखदुःखमोहा यन्नासौ सयात=जडसमुदाय, तस्य—परार्थत्वात्=
 पुरुषोपभोगात्मकार्यसाधनत्वात् । लोके सर्वेऽपि जडभूता पर्यङ्कगृहादिपदार्था
 परार्था अर्थात् चेतनपुरुषप्रयोजनका दृष्टा, चेतन एव पुरुष पर्यङ्कस्म्योपरि शयन
 करोति, (मरे हुए को बल्कि घटिया से नीचे उतार दिया जाता है) एव चेतन
 एव पुरुष गृहेऽपि निवसति, (मरे हुए को घर से निकाल कर शमशान आदि
 स्थानों में भेज दिया जाता है) अतो यस्य चेतनपुरुषस्य कृते इमे पर्यङ्कगृहादि-
 पदार्था प्रयोजनवन्तो दृश्यन्ते स एव चेतनपुरुष आत्मभूत साध्यपुरुष ।

हेतुन्तरमाह—त्रिगुणादिविपर्ययत्वात्=सुखदुःखमोहत्रिगुण्याभावात् । (जो वस्तु
 सुखदुःखमोहरूपत्रिगुणात्मक है वह जड है जैसे घट-पट आदि और जहाँ त्रिगुणादि
 (आदिपदप्राह्य अविवक्षित्व) विषयत्व सामान्यत्व-अचेतनत्व-प्रसवधमिन्व)
 नहीं हैं अर्थात् त्रिगुणादि का विपर्यय है वही साध्याभिमतपुरुषस्वरूप

१ अथ शरीर प्रपञ्चवदात्माधिष्ठित चेट्यावत्वाद् रथवदित्यनुमानप्रयोगो
 द्रष्टव्यः ।

२ अन्नस्य भोक्तृत्वाभावाद् भोग्यत्वेन भोक्ता-देवदत्तादि यथा साध्यतइत्यर्थः ।

३ मुमुक्षूणा शास्त्राणा चेति शेषः ।

आत्मा (जीवात्मा) है । इससे भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है—)
पुरुषः अस्ति (अस्तित्वावान्-स्वनिरूपितसत्तावान्) त्रिगुणादिविपर्ययात्-वेदान्त-
ग्रहणवत् । (सांख्यलोक पुरुषस्वरूप आत्मा का अस्तित्व पाँच हेतुओं से सिद्ध
करते हैं—) तृतीयं हेतुमाह-अधिष्ठानात्, =अधिष्ठातृत्वात्, (प्रेरकत्वात्-
सञ्चालनकर्तृत्वात्) यथा लोके इदं दृश्यते यत् सारथिनाऽधिष्ठितः =प्रेरित
एव रथञ्चरति तथा सर्वमपि जडभूतं वस्तु चेतनपुरुषाधिष्ठितमेव प्रवर्तते स
एव आधिष्ठाता चेतनः पुरुषपदभिर्धेय आत्मा, तथा च 'पुरुषः-अस्ति-अधिष्ठा-
नात् (जडवर्गसञ्चालनकर्तृत्वात्) यन्मैवं तन्मैवं ज्ञानमृज्जवत्' ।

चतुर्थं हेतुमाह—भोक्तृभावात् = भोक्तृत्वात्, लोके घट-पटादिभोग्यपदार्थान्
दृष्ट्वा तेषां भोक्ता यथा कश्चिच्चेतनोऽनुमीयते, तथा बुद्ध्यादिसमस्तजडपदा-
र्थानामपि भोक्ता चेतनः पुरुषोऽवश्यमस्ति—स एव सांख्यपुरुष आत्मा । तथा च
अनुमानम्—“पुरुषः अस्ति-भोक्तृभावात्-मायोपहितग्रहणवत्” ।

पञ्चमं हेतुमाह—कैवल्यार्थं प्रवृत्ते = आत्यन्तिक-ऐकान्तिकदुःखत्रयप्रशमन-
रूपकैवल्यार्थं प्रवृत्तिदर्शनात् । सा च कैवल्यार्थं प्रवृत्तिं बुद्ध्यादीनामपि तु
पुरुषस्यैव । तथा च पुरुषः अस्ति कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः 'महर्ष्यादिवत्' इत्यनुमाने-
नापि शरीराद् व्यतिरिक्तः पुरुष आत्मा सिद्धः ॥ १७ ॥

हिन्दी—अब इस कांरिका से अनुमान के आधार पर पुरुष (आत्मा
= जीवात्मा) को सिद्ध करते हैं—जिस अनुमान में प्रथम हेतु है—(१)
'संघात् परार्थत्वात्'—अर्थात् जितना भी संघात = भोग्य पदार्थ है वह 'परार्थ'
अर्थात् पर जो चेतन पुरुषस्वरूप आत्मा है उसके 'अर्थ' प्रयोजन के
लिये है, क्योंकि लोक में जितने भी संघात = भोग्य सुन्दर पदार्थ तैल-फुलेल,
पलङ्ग, आसन आदि देखने में आते हैं उन सबको देखकर यह अनुमान होता
है कि इनका भोक्ता कोई चेतन व्यक्ति अवश्य है वही चेतनपुरुष शरीरव्यति-
रिक्त आत्मा है ।

(२) 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इस द्वितीयहेतु की हिन्दी व्याख्या की जा
चुकी है ।

(३) 'अधिष्ठानात्'—इस तृतीयहेतु से भी पुरुष (आत्मा) का अस्तित्व
सिद्ध हो जाता है । अधिष्ठान शब्द का अर्थ है प्रेरित करने वाला अर्थात्

सञ्चालन करने वाला । हम लोक में देखते हैं कि सारथिरूप चेतन में व्यक्ति प्रेरित अथवा सञ्चालित हुआ रथ जैसे अपने वहन आदि कार्य को सम्पन्न करता है उसी प्रकार सत्तार की सभी जड़भूत वस्तुमें चेतन पुरुष से अधिष्ठित अर्थात् प्रेरित होकर ही अपने अपने कार्यसम देखी जाती हैं, सो इनका जो अधिष्ठाता (प्रेरक) है वही साध्यपुरुष आत्मा है ।

(४) 'भोक्तृमाधात्' इस हेतु से भी बुद्धि आदि समस्त जड़ पदार्थों का भोक्ता चेतन पुरुष कोई अवश्य है यह निश्चय होना है वही साध्य पुरुष आत्मा है ।

(५) 'कैवल्यार्थं प्रवृत्ते' पञ्चम हेतु से भी यह निश्चय होना है कि कैवल्य-रूप मोक्ष के लिये प्रवृत्तिशील कोई अरुपदार्थ न होकर चेतन ही हो सकता है यम, यही चेतन साध्यपुरुष आत्मा है ।

अब प्रश्न यह होना है कि वह पुरुषस्वरूप आत्मा प्रति शरीर में एक है अथवा अनेक ? ॥ १४ ॥

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषब्रह्मत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

गौ०—'अथ न किमेकं सकशरीरेऽधिष्ठाता मणिरमनात्मकसूत्रवत् आहो-स्विद् बहुव आत्मानं प्रतिशरीरमधिष्ठातार' इत्यत्रोच्यते—जननञ्च मरणञ्च करणानि च जननमरणकरणानि तेषां प्रतिनियमात्, प्रत्येकनियमादित्यर्थं । यद्येक एव आत्मा स्यात् तत एकस्य जन्मनि सर्वे एव जायेरन् एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धत्वमूर्खत्वकुणित्वज्वरत्वलक्षणे सर्वेऽपि बाधिरान्धमूर्खकुणित्वज्ज्वा स्तु, न चैव भवन्ति, तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् पुरुषब्रह्मत्वं सिद्धम् । इतश्च अयुगपत्प्रवृत्तेश्च युगपदेककालं न युगपदयुगपत् प्रवृत्तनं, यस्मादयुगपदभादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽप्ये ज्ञानेऽप्ये प्रवृत्ता, तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च बहुव इति सिद्धम् । किञ्चायद् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव त्रिगुणभावविपर्ययान्व पुरुषब्रह्मत्वं सिद्धम् । यथा सामान्ये जन्मनि एकं सात्त्विकं सुखी अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान्, एव त्रैगुण्यविपर्ययाद् बहुत्वं सिद्धमिति ॥ १८ ॥

१ व्यवस्थान्, अन एवोक्ते न्यायमूत्रे 'व्यवस्थानो नानेति' ।

अन्वयः—पुरुषबहुत्वं, सिद्धम्, (बुतः) जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्, अयुगपत्प्रवृत्तेः, त्रैगुण्यविपर्ययाच्च ।

व्याख्या—पुरुषबहुत्वं=पुरुषानेकत्वम्, (प्रतिशरीरमित्यर्थः) सिद्धम्= अनुमितं भवति । (त्रिभिः हेतुभिरित्यर्थः) कथमित्याह—जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्=जन्ममृत्यु-इन्द्रियाणां—प्रतिनियमात्=प्रतिशरीरं भिन्नत्वात् ।

अयमाशयः—नूतनपरिग्रहीतशरीरेन्द्रियमनोबुद्धयहङ्कारादिभिः सह पुरुषस्य (आत्मनः) सम्बन्धो जन्म तद्विच्छेदश्च मरणम्—अर्थात् प्राप्तशरीरादिभिः सह पुरुषस्य सम्बन्ध-विच्छेदो मरणम्, तथा च सर्वेषु शरीरेषु यदि एकः पुरुषः स्यात्तदा एकस्मिन् जायमाने सर्वे जायेरन्, एकस्मिन् त्रियमाणे च सर्वे त्रियेरन्, एवं एकस्मिन् अन्धे सर्वेऽप्यन्धाः स्युः एकस्मिन् बधिरे च सर्वेऽपि बधिराः स्युः, न चैवं भवतीत्यतः प्रतिशरीरं भिन्न एव पुरुषः स्वीकार्यस्तस्माज्जननमरणकरणानां प्रतिनियमात् इति हेतुना पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । अर्थात् 'पुरुषाः—अनेकाः (प्रति-शरीरं भिन्नाः) जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' इत्यनुमानं पुरुष-बहुत्वे मानम् ।

अयुगपत्प्रवृत्तेश्च=विभिन्नकालीनप्रवृत्तिमत्त्वात् । त्रैगुण्यविपर्ययाच्च=गुण-त्रयाणां परिणामभेदाच्च । अर्थात् केचन प्राणिनः सत्त्वगुणप्रधाना दृश्यन्ते यथा ऋषिप्रभृतयः, अपरे केचन रजोगुणप्रधानाः सन्ति यथा मनुष्याः, अन्ये च प्राणिनस्तमोगुणप्रधाना अपि वर्तन्ते यथा पक्षि-सर्प-पशवादिप्रभृतयः । सोऽयं त्रैगुण्यविपर्यय एकात्मवादपक्षे नोपपद्यते, यतः यद्येकः पुरुषः—(आत्मा) स्यात् तर्हि कश्चित् प्राणी सत्त्वगुणप्रधानश्चेत् तर्हि सर्वेऽपि प्राणिनः सात्त्विका एव भविष्यन्ति, रजो-गुणप्रधानश्चेत् कश्चिदेकः प्राणी तदा सर्वे एव राजसा भवन्तु, तमोगुणप्रधाने च तामसा भवेयुः, न च तन्ना भवति, तस्मात् पुरुषबहुत्वं स्वीकार्यम् ॥ १८ ॥

हिन्दी—(१) जनन (जन्म) मरण (मृत्यु) और करण (इन्द्रियाँ) ये प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से देखने में आती हैं, अतः इन सबकी व्यवस्था के कारण पुरुष (आत्मा) अनेक (बहुत) है । कारण कि शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि-मन अहङ्कार आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होना जन्म कहलाता है और उस सम्बन्ध का विच्छेद हो जाना ही मृत्यु है, अब ऐसी परिस्थिति में यदि आत्मा को एक माना जाता है तो उस एक आत्मा का यदि एक शरीर के तथा उस शरीर से सम्बन्धित मन-बुद्धि-अहङ्कार आदि के साथ सम्बन्ध हो

गया तो सब शरीरों के तथा उससे सम्बन्धित मन-बुद्धि-अहङ्कार आदि के साथ सम्बन्ध हो गया, इससे यह आपत्ति लग जाती है कि एक प्राणी के उत्पन्न होने से सभी प्राणी उत्पन्न होने लग जायें । और एक शरीर से तथा उससे सम्बन्धित मन-बुद्धि-अहङ्कार आदि से यदि आत्मा के सम्बन्ध का विच्छेद हो गया तो समझो कि सभी से हो गया, इससे एक प्राणी के मरने से सभी प्राणियों के मरण की आपत्ति लग जाती है ।

(२) अणुपत्प्रवृत्तेः—भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग प्राणियों की प्रवृत्तियों के देखने से भी पुरुष (आत्मा) का बहुत्व सिद्ध होता है, अर्थात् किसी समय कोई धर्म में प्रवृत्त है तो कोई अधर्म में इत्यादि, अतः यदि आत्मा सब शरीरों में एक ही हो तो एक किसी भी प्राणी की धर्म में प्रवृत्ति होने पर सभी धर्म में प्रवृत्ति होने लग जायें और अधर्म में प्रवृत्ति हो जाने पर सभी अधार्मिक बन जायें कारण कि सबका प्रेरक आत्मा एक ही है ।

(३) त्रैगुण्यविपर्ययात्—त्रैगुण्य (सत्त्व-रज-तम) के विपर्यय अर्थात् परिणामभेद से भी पुरुष का बहुत्व सिद्ध हो जाता है जैसे कोई तो प्राणी एक भाव सुखी ही है जैसे देवता लोग, और कोई एकभाव दुःखी ही है जैसे पशु आदि प्राणी, कोई एकदम मोहजाल में ही फसे हुए हैं जैसे सासारिक मनुष्य । अतः पुरुष को यदि एक माना जायगा तो एक यदि सुखशाली है तो सभी सुखशाली हो जावें और एक यदि दुःखी है तो सभी दुःखी हो जावें, तथा एक के मोहग्रस्त होने से सभी मोहग्रस्त हो जायें । कारण कि सबसे सम्बन्धित आत्मा एक ही है ॥ १५ ॥

विवेकज्ञान के उपयोगी आत्मा के धर्मों को बतलाते हैं—

तस्माच्च विपर्ययात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १६ ॥

गौ०—अकर्ता पुरुष इत्येतदुच्यते—‘तस्माच्च विपर्ययात्, तस्माच्च यद्योक्तत्रैगुण्यविपर्ययाद्विपर्ययात्—निर्गुण विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यय उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति

१ पुरुषबहुत्व प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मादाहेति मिथ ॥

योऽप्यमधिकृतो बहुत्वं प्रति^१, गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तते एव । किञ्चान्यत् कैवल्यं केवलभावः, कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थः, त्रिगुणेष्वप्येव केवलोऽन्यः^२ । माध्यस्थ्यं मध्यस्थभावः, परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः । यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्मणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येव गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते । तस्मात् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषस्तोषां कर्मणामिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुषः, एवं पुरुषस्यास्तित्वं च सिद्धम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—च, यस्मात् विपर्ययात्, अस्य, पुरुषस्य, साक्षित्वम्, कैवल्यम्, माध्यस्थ्यम्, द्रष्टृत्वम्, अकर्तृभावश्च, सिद्धम्, (भवति) ।

व्याख्या—च, तस्मात्—“त्रिगुणमविवेकि” इत्यादिकारिकोक्तधर्मेभ्यः । विपर्ययात्=विपरीतात्, अर्थात्, अत्रिगुणत्वात् । विवेकित्वात्, अविषयत्वात्, असाधारणत्वात्, चेतनत्वात्, अप्रसवधमित्वाच्च । अस्य = सांख्यमतसिद्धस्य पुरुषस्य = आत्मनः । साक्षित्वम् = ज्ञानस्वरूपत्वम् । कैवल्यम् = आत्यन्तिक-ऐकान्तिकदुःखत्रयराहित्यम् । माध्यस्थ्यम् = स्वपक्ष-परपक्षशून्यत्वम् । द्रष्टृत्वम् = कैवल्यं वस्तूनां दर्शनकर्तृत्वम् । अकर्तृभावश्च=कर्तृत्वशून्यत्वम् च । सिद्धम् = अनुमितम् । (भवति) ॥ १९ ॥

हिन्दी—“त्रिगुणमविवेकि” इत्यादि ११ वीं कारिका में प्रकृति (अव्यक्त) और व्यक्त के जो त्रिगुणत्व-विवेकित्व-अविषयत्व आदि धर्मों से इस पुरुष का साक्षित्व-कैवल्य-माध्यस्थ्य द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है । उनमें से चेतनत्व और अविषयत्व इन दो धर्मों से तो पुरुष का साक्षित्व और द्रष्टृत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि चेतन और अविषयभूत पदार्थ ही साक्षी और द्रष्टा हुआ करते हैं, तथा अत्रिगुणत्व से उसका कैवल्य और माध्यस्थ्य सिद्ध होता है, एवं अप्रसवधमिति धर्म के द्वारा पुरुष का अकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अप्रसवधमिति ही अकर्ता हुआ करता है ॥ १९ ॥

१. यः पुरुषः ‘पुरुषबहुत्वं सिद्ध’मित्यत्रोद्दिष्ट इत्यर्थः ।

२. अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्, आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्, तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात्सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धमिति मिश्राः ।

प्रदत्त—“चेतनोऽहङ्करोमि” इस प्रमाणभूत प्रतीति के आधार पर चेतन पुरुष ही जबकि कर्ता सिद्ध हो रहा है तब “अकर्तृभावश्च” इत्यादि १९ वीं कारिका से पुरुष का अकर्तृत्वधर्म कैसे बतलाया ?

तस्मात् तत्सयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तव्यं भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

गी०—‘यस्मादकर्ता पुरुषस्तत्कथमध्यवसाय करोति धर्मं करिष्याम्य धर्मं करिष्यामीत्यतः, कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुष एवमुभयया दोष स्था-
दिति, अत उच्यते—इह पुरुषश्चेतनावान् तेन चेतनावसाससंपुक्त, महदादि-
लिङ्गं चेतनावदिव भवति, यथा लोके घट शीतसंयुक्त शीत, उष्णसंयुक्त
उष्ण, एवं महदादिलिङ्गं तस्य सयोगात् पुरुषसयोगाच्चेतनावदिव भवति,
तस्माद् गुणा, अध्यवसायं कुर्वन्ति न पुरुष । यद्यपि लोके पुरुष कर्ता, गन्ते-
त्यादि प्रयुज्यते तथाप्यकर्ता पुरुष । कथम् ? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तव्यं
भवत्युदासीन । गुणानां कर्तृत्वे सति उदासीनोऽपि पुरुष कर्तव्यं भवति, न
कर्ता । अत्र दृष्टान्तो भवति—यथाऽचौरश्चौरं सह शूहीतश्चौर इत्यवगम्यते,
एव त्रयो गुणा कर्तारं सै संयुक्तं पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्ता भवति कर्तृसयोगात् ।
एव व्यक्ताव्यक्तज्ञाना विभागो व्याख्यातः,^१ ‘यदिभागाऽन्वोक्षप्राप्तिरिति ॥ २० ॥

अन्वयः—तस्मात्, तत्सयोगात्, अचेतनम्, लिङ्गम्, चेतनावदिव, भवति,
तथा गुणकर्तृत्वेऽपि, उदासीन, कर्ता इव, भवति ॥ २० ॥

व्याख्या—तस्मात्=यतः पुरुषश्चेतनं जनः । तत्सयोगात्=पुरुषसयो-
गात् । अचेतनम्=चेतनावदिवम् । लिङ्गम् - बुद्ध्यादि । चेतनावदिव=चेतन-
सदृशम् । भवति । तथा=तद्वदेव । गुणकर्तृत्वेऽपि=गुणानाम्=सत्त्वरजस्त-
मसाम्, कर्तृत्वेऽपि । उदासीन । पुरुष । कर्ता इव=कर्तृत्वे । भवति ॥ २० ॥

हि दी—साध्यशास्त्र मे बुद्धितत्त्व को कर्ता और भोक्ता माना गया है
क्योंकि वह त्रिगुण तथा प्रसवधर्मी है । उस पर पुरुष को जनिगुण तथा अप्रसव-

१ भाष्यमिति—यस्मादिति । पुरुषस्याकर्तृत्वाङ्गीकारेऽध्यवसायानुपपत्तिस्तदुप-
पादककर्तृत्वस्य साध्यमनसिद्धवानुपपत्तिरित्युभयत्र पाञ्चरत्नद्विरित्याक्षेपाशयः ।

२ व्यक्ताव्यक्तज्ञविशेषात् ।

धर्मी होने के कारण अकर्ता और अभोक्ता माना है । अब प्रश्न यह होता है कि तब फिर 'चेतनोऽहं करोमि' यह सार्थानुभवसिद्ध प्रतीति कैसे होगी, क्योंकि जो चेतन है पुरुष—वह कर्ता नहीं और जो कर्तृत्व-सम्पन्न है बुद्धितत्त्व—वह चेतन नहीं ।

इस प्रश्न का उत्तर कारिका में दिया कि—पुरुष चेतन है इसीलिए उस पुरुष के संयोग से अचेतन लिङ्ग (बुद्धितत्त्व) चेतन के समान हो जाता है, जैसे राजा के संपर्की पुरोहित को 'पुरोहितोऽयं राजा संबृत्तः' ऐसा कहा जाता है, अर्थात् वह पुरोहित राजा के सदृश हो गया, एवं रक्तपुष्प के सन्निधान से श्वेत होती हुई भी स्फटिक मणि जैसे रक्त की तरह मालूम पड़ने लगती है, इसी प्रकार गुण अर्थात् सत्त्वरजतम इन तीनों गुणों की समानावस्था प्रकृति तत्त्व (बुद्धि) ही कर्ता है परन्तु वास्तविक में उदासीन (असङ्ग = पुष्करपलाशवत् निर्लेप) होता हुआ भी पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध से अर्थात् प्रकृति के चङ्गुल में फँसकर अपने को ही कर्ता समझ बैठता है, जिससे अकर्ता होता हुआ भी पुरुष अपने को कर्ता मानने लगता है इसी से 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति बन जाती है ॥ २० ॥

प्रश्न—प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध क्यों होता है, तथा कैसे होता है ?

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

पङ्खन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

गी०—'अद्वैतयोः प्रधानपुरुषयोः किहेतुः सङ्घातः' उच्यते—पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थं—प्रकृति महदादिकार्यं भूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति एतदर्थम्, प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः कैवल्यार्थम्, स च संयोगः पङ्खन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः, यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्ध एतौ द्वौपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुरित्यक्तौ देवादितश्चेतश्च चेतुः स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ पुनस्तयोः स्वबन्धोर्विश्वस्तत्त्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति, अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः एवं शरीराखण्ड-पङ्गुद्विजितेन भार्गेनान्धो यात्रि पङ्गुश्चान्वस्करुद्धाखण्डः, एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति

पद्गुवन्न क्रिया प्रधाने क्रियाशक्तिरस्यन्धवन्न दर्शनशक्ति । यथा वाऽनयो पद्ग्व-
न्धयो कृतार्थेयाविभागो भविष्यतीप्सितस्मानप्राप्तयो , एव प्रधानमपि पुरुषस्य
माक्ष कृत्वा निरतंते पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं भच्छति, तयो कृतार्थयो
विभागो भविष्यति । किञ्चान्यत् तत्कृत् सगं , तेन सयोगेन कृतस्तत्कृत , सगं
सृष्टि , यथा स्त्रीपुरुषसयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसयोगात् सगस्यो
त्पत्ति ॥ २९ ॥

अन्वय — पुरुषस्य, दर्शनार्थम्, तथा, प्रधानस्य कैवल्यार्थम्, उभयो,
सयोग, अपि पद्ग्वन्धवत् (भवति) तत्कृतं सगं ॥ २९ ॥

व्याख्या—पुरुषस्य-प्रधानस्येत्युभयत्र कर्मणि पठ्ठी । कर्तृपद बोधयत्र
अध्याहार्यम् । एव च—पुरुषस्य=पुरुष । दर्शनार्थम्=स्वोपभोगार्थम् । (प्रधानेन
अपेक्ष्यते इति भावः) तथा=तथैव प्रधानस्य=प्रधान—प्रकृति । कैवल्यार्थम्=
स्वस्य मोक्षार्थम् । पुरुषेण अपेक्ष्यते, अर्थात् पुरुष स्वस्य मोक्षार्थं प्रधानम-
पेक्षते) (एव परस्परमपेक्षया) उभयो=प्रधानपुरुषयो । सयोग अरि=
सम्बन्धाऽपि (भवति) पद्ग्वन्धवत्=पगु गमनाशक्त , अन्धश्च दर्शनाशक्त ,
तथा च गमनाशक्तो हि पगु स्वाभीष्टदेशप्राप्त्यर्थमन्धमपेक्षते—एवमन्धोऽपि
दर्शनाशक्त्वात् मार्गप्रदर्शकं पगुमपेक्षते—इत्येव परस्परमपेक्षया पद्ग्वन्धयो
सयोगो भवति । अर्थात्=पगुरन्धस्वन्दाराहणरूप सयोग सह संपादयति ।
तत्कृतं=प्रधानपुरुषसयोगकृत । सगं =सृष्टिः । (अस्तीति भावः) अर्थात् यथा
स्त्रीपुरुषयो सयोगात् सन्तानोत्पत्तिर्भवति तथैव प्रधानपुरुषयो सयोगात्
सृष्टिर्भवति ॥ २९ ॥

हिन्दी—जिस प्रकार किसी कामिनी स्त्री को अपने उपभोग के लिए पति
अपेक्षित होता है इसी प्रकार प्रकृति भी अपने उपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा
रखती है जिस अपेक्षावश उसे पुरुष से सयोग करना हो पड़ता है । जैसे ही पुरुष
भी अपनी मुक्ति (सांसारिकबंधन से छुटकारा प्राप्त करने) के लिए प्रकृति से
सर्वथा सापेक्ष है जिस अपेक्षावश उसे भी प्रकृति से सयोग करना ही पड़ता है ।
जिस प्रकार गमनाशक्त एक लगड़ा पुरुष अपने स्वार्थसाधन के लिए अन्धपुरुष से
सापेक्ष हो उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर बैठता है, और इसी प्रकार अन्ध भी
दर्शनाशक्त होने की वजह से अपने मार्गप्रदर्शनरूप कार्य को सम्पन्न करने की

दृष्टि से लंगड़े से सम्बन्ध करना चाहता है, कि लंगड़े को अन्धों के लिये नुर्खे पड़े बैठा लेता है और दोनों का मतलब पूर्ण हो जाता है। उसी प्रकार परस्पर की अपेक्षा से सम्पन्न हुआ प्रकृति और पुरुष का संयोग सृष्टि को उत्पन्न करता है जिससे दोनों का भोगापवर्ग रूप मतलब सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

सृष्टिक्रम को बतलाते हैं—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चम्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

गौ०—इदानीं सर्वविभागदर्शनायमाह—प्रकृतिः प्रधानं ब्रह्म अव्यक्तं बहुधा-
नकं मायेति पर्यायः । अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महानुत्पद्यते—महान् बुद्धिरा-
सुरी मतिः ज्योतिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते । तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते,
अहङ्कारो भूतादिवैकृतस्तीजसोऽभिमान इति पर्यायाः । तस्माद् गणश्च षोडशकः,
तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते, स यथा—पञ्चतन्मात्राणि
शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्रयूक्ष्म-
पर्यायवाच्यानि, तत एकादशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमिति पञ्च
बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकमेकादशं
मनश्च, एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते । किञ्च पञ्चम्यः पञ्चभूतानि,
तस्मात् षोडशकाद् गणात् पञ्चम्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्यु-
त्पद्यन्ते । यदुक्तं—^१शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः,
रसतन्मात्रादापः गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । एवं पञ्चम्यः परमाणुभ्यः पञ्च महा-
भूतान्युत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥

अन्वयः—प्रकृतेः, महान्, अहङ्कारः, तस्मात्, षोडशकः, गणः, (जायते)
तस्मादपि, षोडशकात्, पञ्चम्यः, पञ्च, भूतानि, (उत्पद्यन्ते) ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्रकृतेः=प्रकृतितत्त्वतः महान्=महत्तत्त्वम् (बुद्धितत्त्वम्) (उत्प-
द्यन्ते) । ततः=महत्तत्त्वतः । अहङ्कारः=अहङ्कारनामकं तत्त्वम्, (समुत्पद्यते)
तस्मात्=अहङ्कारात् । षोडशकः=१६ संख्याकः । गणः=पदार्थतत्त्वसमुदायः,

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्—कर्मेन्द्रियपञ्चकम्—तन्मात्रपञ्चकम्—मन एतानीत्यर्थः । तस्मादपि षोडशत्वात्—पूर्वोक्तएकादशेन्द्रियसहितपञ्चतन्मात्रगणात् । पञ्चम्य = षोडशगणान्तरगतपञ्चतन्मात्रेभ्यः । पञ्चभूतानि—पृथिवी—जल—आदिपञ्चमहाभूतानि । (उत्पद्यन्ते) ॥ २२ ॥

हिन्दी—प्रधानकारणीभूत प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, और उस महत्तत्त्व से अहङ्कार अहङ्कारसे चक्षु-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिया तथा वाक् पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं । षोडश १६ गणों के अन्तर्गत पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी-जल आदि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

प्रश्न—महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) किसे कहते हैं अर्थात् उसका क्या लक्षण है, तथा उसके कितने घम हैं ?

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।

सात्त्विकमेतद्रूप तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

गी०—यदुक्त व्यक्ताव्यक्तज्वितानान्माक्ष' इति, तत्र महदादिभूतान्त्रयोविंशतिभेद व्यक्त व्याख्यानम्, अव्यक्तगपि भेदाना परिमाणात्—इत्यादिना व्याख्यात, पुरुषोऽपि सङ्घातपरायत्वात् इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यात । एवमज्ञानं पञ्चविंशतिनित्तानि, यस्तैस्त्रैलोक्य व्याप्त जानाति तस्य भावोऽस्तित्व तत्त्व' यथोक्तम्—

पञ्चविंशतिनित्तत्वज्ञो यत्र तत्रायमे रत ।

जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यन्ते नात्र संशयः ॥

ज्ञानं यथा—प्रज्ञानं पुरुषो बुद्धिरहङ्कार पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इत्येतेषां पञ्चविंशतिनित्तानि । तत्रोक्तप्रकृतमेतन्मानुसन्धने, तस्य महत् किं लक्षणमित्येतादाह—अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम् । अध्यवसानमध्यवसाय, यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुरस्त्वदध्यवसायोऽप्यघटोऽप्यपट इत्येवम् अध्यवस्यति या सा बुद्धिरिति लक्ष्यते^२ । सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका सात्त्विकतामसरूपभेदात् । तत्र बुद्धे सात्त्विक रूपं चतुर्विधं भवति—

१ मुनिरित्यर्थः ।

२ अध्यवसायो बुद्धिरिति क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षयेदम् । सर्वे हि व्यव-

धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति । तत्र धर्मो नाम दयादानयमनियमलक्षणः,
 'तत्र यमा नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा
 यमाः,' 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' ।^२ ज्ञानं प्रकाशोऽव-
 गमो भानमिति पर्यायाः । तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र बाह्यं नाम
 वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाध्वपटङ्गसहिताः, पुराणानि
 न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम्—इयं प्रकृतिः
 सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाऽयं पुरुषः सिद्धौ निर्गुणो व्यापी चेतन इति ।^३ तत्र
 बाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः । आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः ।
 वैराग्यमपि द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं दृष्टविषयवर्तृष्णमर्जनरक्षणकथ
 सङ्गहिंसादोषदर्शनाद् विरक्तस्य, मोक्षोप्सोयंदुस्तप्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्^४ ।
 ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्छाष्टगुणम्—अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाभ्यन्ती-
 शित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चेति । अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति
 विचरतीति^५ । महिमा महान् भूत्वा विचरतीति । लघिमा मृणालीतूलावयवा-

हर्ताऽऽलोच्य मत्वात्त्वहमधिकृत् इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन् मयेति यदध्यवस्यति,
 तद योऽयं कर्तव्याकारो निश्चयश्चित्तसन्निधानादापन्नचैतन्याया इव बुद्धेर्धर्मः
 सोऽध्यवसायो बुद्धेर्लक्षणमिति भिन्नाः ।

१. अभ्युदग्रनिःश्रेयसहेतुर्धर्मः, तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजन्योऽभ्युदयहेतुरष्टाङ्ग-
 योगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुरिति तत्त्वकौमुदी ।

२. एवमप्रसिद्धौ यमनियमावभिधाय धर्मान्तरं क्रमप्राप्त ज्ञानं निरूपयति
 ज्ञानमिति ।

३. द्विविधत्वात्त्विकज्ञानफलमाह—तत्रेति ।

४. दृष्टादृष्टभेदेन यतमान—व्यतिरेक-एकेन्द्रिय-वशीकारसंज्ञाभिश्चतुर्विधं
 प्रदर्शितं वाचस्पतिमिश्रैः । तत्र विषयेषु इन्द्रियाणां परिपाचनाय प्रवृत्तिनिरा-
 सायौ यत्नौ यतमानसंज्ञा । परिपाचनानुष्ठानकाले पक्ष्यमाणेभ्यः पवदानां व्यति-
 रेकावधारणं परिपाकसंज्ञा इन्द्रियप्रवृत्तयसमर्थतयात्तुल्यभाषत्त्याप्युपरिस्थित-
 दृष्टादृष्टविषयेषु निवृत्तिर्वशीकारसंज्ञेति अत एवोक्तं पातञ्जलदर्शने 'दृष्टानुश्र-
 विकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (१।१६) इति ।

५. यतः शिलायामपि योगिनः प्रवेशो भवतीति ।

यपि लभुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति^१ । प्राप्तिरभिमत वस्तु यत्र तत्रावस्थित
प्राप्नोति^२ प्राकाम्य प्रकामता यदेवेच्छति तदेव विदधाति^३ । ईशित्व प्रभुतया
त्रैलोक्यमपीष्टे । वशित्व सर्वं वशीभवति । यत्र कामावसायित्व, ब्रह्मादिस्तम्ब-
पर्यन्त यत्र कामस्तत्रैवास्त्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति^४ । चत्वारि
एतानि बुद्धे सात्त्विकानि रूपाणि । यदा सत्त्वेन रजस्तमसो अभिभूते तदा
पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति । किञ्चान्यत् तामसमस्माद्विपर्यस्तम्, अस्मा-
द्धमदिविपरीत तामस बुद्धिरूपम्, तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्म, एवमज्ञानमवैराग्य
मनैश्वर्यमिति । एष सात्त्विकैस्तामसै स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्ताः
दुरपद्यते ॥ २३ ॥

अन्वय —अध्यवसाय बुद्धि, धर्म, ज्ञानम्, विराग, ऐश्वर्यम्, सात्त्विकम्,
एतद् रूपम्, (च) अस्मात् विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

व्याख्या—अध्यवसाय=निश्चय । बुद्धि=बुद्धितत्त्वम् अर्थात् अध्यवसायत्व
बुद्धेर्लक्षणम् । (बुद्धेरष्टौ धर्मा भवन्ति तत्र चत्वार सात्त्विका चत्वारश्च
तामसा) धर्मा । ज्ञानम् । विराग =वैराग्यम् । ऐश्वर्यम्=अणिमा-महिमा
गरिमा-लघिमा-प्राप्ति-प्रकाम्यम्-ईशित्वम् वशित्वरूपमष्टविधम् । सात्त्विकम्=
सत्त्वाग्रप्रधानम् । एतद् रूपम्=इमे धर्मा तामसम्=तमोऽग्रप्रधानम् । (च, रूपम्)
अस्मात्=धमदिविपर्यस्तम्=विपरीतम् । अर्थात्, अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य
अनैश्वर्यरूपम् । (अस्ति) ॥ २३ ॥

हिन्दी—किसी वस्तु के निश्चय करने को बुद्धि कहते हैं, और उस बुद्धि
के धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक धर्म हैं । अध्यवसाय-और निश्चय
के साधन को धर्म कहते हैं, वस्तुओं के प्रकाश करने जाने को ज्ञान कहते हैं,
पुत्र-बलत्र आदि पदार्थों में राग न होना ही वैराग्य है । ऐश्वर्यस्पष्ट ही है और
बुद्धि के चार जो सामसधर्म हैं वे इन्के सर्वथा विपरीत हैं—जैसे-अधर्म-अज्ञान-
अवैराग्य-अनैश्वर्य ॥ २३ ॥

१ यत् सूर्यमरीचीनबलम्य सूर्यलोकं याति योगीति मिथ्या ।

२ यत्तन्नुमसमपि स्पृशति करेण योगीति ।

३ यतो जल इव भूमावप्युन्मज्जति निमज्जति निमज्जति च योगी ।

४ सत्यमवस्थेति मिथ्या ।

प्रश्न—अहङ्कार का क्या लक्षण है तथा उससे किस दो प्रकार की सृष्टि में उत्पत्ति होती है ?

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकस्यैव ॥ २४ ॥

गी०—एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्, अहङ्कारलक्षणमुच्यते^१ एकादशकश्च गणः—कादशेन्द्रियाणि तथा तन्मात्रो गणः पञ्चकः पञ्चलक्षणोपेतः शब्दतन्मात्रस्पर्श-तन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अभिमानः अहङ्कारः च, तस्माद्, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्तते, एकादशकः, गणः च, तन्मात्रः पञ्चकः एव ॥ २४ ॥

व्याख्या—अभिमानः=अभिमानस्वधर्मवान् । अहङ्कारः=स्पष्टमेतत् । तस्मात्=अहङ्कारात् । द्विविधः=द्विप्रकारकः । सर्गः=सृष्टिः । प्रवर्तते=उत्पद्यते । कादशकः=एकादशसंख्याकः । गणः=चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियम्, वाक्पाणि आदिपञ्चकर्मेन्द्रियम्, मनः—इत्येतन्नामकः समुदायः । च=और । तन्मात्रपञ्चकः=क्षम-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकः । एव ॥ २४ ॥

हिन्दी—किसी वस्तु के अभिमान करने को अहङ्कार कहते हैं और उस अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक ११ एकादश इन्द्रिय (५ ज्ञानेन्द्रिया—५ कर्मेन्द्रिया—और १ मन) रूपा सृष्टि, और दूसरी तन्मात्रस्वरूपा सृष्टि ॥ २४ ॥

प्रश्न—अकेले अहङ्कार से यह विलक्षण गणद्वयात्मिका सृष्टि कैसे होती है, क्योंकि एक अन्धकारमयी सृष्टि है तो दूसरी प्रकाशक सृष्टि है ?

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तजसादुभयम् ॥ २५ ॥

१. आलोचनमननयोरन्ते तयोर्विषये योज्यम् 'अहमत्राधिकृत' इत्यादिरूपेणाभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारलक्षणमित्यर्थः । उत्तरार्धे व्याचष्टे—एकादशकश्चेति । (ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चेति माठरसम्मतः, एकादशश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चेति च मिश्रसम्मतः पाठोऽत्र कारिकायां द्रष्टव्यः ।

गी०—‘किलक्षणात् सर्गं इत्येनदाह—^१सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी
अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कार सात्त्विक तस्य च पूर्वाचार्यं सज्ञा वृता वैवृत
इति, तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते, यस्मात् सात्त्विकानि
विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते सात्त्विक एकादशक
इति । किञ्चान्यद्—भूतादेस्तन्मात्रं स तामस, ^२तमसाभिभूते सत्त्वरजसी
अहङ्कारे यदा भवत, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यं वृता सज्ञा
भूतादि, तस्माद् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रं पञ्चको गण उत्पद्यते ^३ भूतानामादि
भूतस्तमोबहुलस्तेनोक्तं स तामस इति तस्माद् भूतादे पञ्चतन्मात्रको गण ।
^४किञ्च तैजसादुभयम् ^५यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवत-
स्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति सज्ञा लभते, तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते ।
^६उभयमिति—एकादशो गणस्तन्मात्रं पञ्चक । योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो
वैवृतिको भूत्वा एकादशेन्द्रियाभ्युत्पादयति स तैजसमहङ्कार सहायं गृह्णाति,
सात्त्विको निष्क्रिय स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थं तथा तामसोऽहङ्कारो
भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहकारेण क्रियावता युक्ततन्मात्राभ्युत्पादयति
तेनोक्तं तैजसादुभयमिति । ^७एवं तैजसेनाहकारेणेन्द्रियाप्येकादश पञ्चतन्मा-
त्राणि वृतानि भवन्ति ॥ २५ ॥

अन्वयः—वैवृतात्, महङ्कारात्, सात्त्विक एकादशक, प्रवर्तते, भूतादे,
तन्मात्रं, (प्रवर्तते), (यत) स, तामस तैजसात्, उभयम् ॥ २५ ॥

१ वैवृतशब्दार्थमाह—सत्त्वेनेति ।

२ भूतादिशब्दस्यार्थं विवृणोति—तमसेति ।

३ तामसाहकारकार्यस्य तन्मात्रस्य तामसत्वे युक्तिमाह—भूतानामिति । उप-
सहरति तस्मादिति ।

४ यद्यप्येकोऽहङ्कारस्तथापि गुणभेदाद्भावाभिभवाम्ना भिन्नकार्यकारीति-
मिथा ।

५ अहङ्कारस्य तैजसत्वे युक्तिमाह—यदेति ।

६ सात्त्विकनामसोभयविधकार्यजनने तैजसाहकारस्योपोद्बलकत्वमाहोभय-
मितीति ।

७ फलितमाह—एवमिति ।

व्याख्या—वैकृतात् = सात्त्विकात् । अहङ्कारात् । सात्त्विकः = सत्त्वगुण विशिष्टः । एकादशकः = एकादशेन्द्रियसमुदायः । प्रवर्तते = उत्पद्यते ।

भूतादेः = तामसात्, (अहङ्कारात्), तन्मात्रः = तन्मात्रसंज्ञक पञ्चको गणः । (प्रवर्तते) यतः—ततः तन्मात्रात्मको गणः । तामसः = तमोगुणप्रधानाहङ्कारजन्यः ।

तैजसात् = राजसात्—अर्थात् रजोगुणप्रधानात् अहङ्कारात् । उभयम् = उभयात्मिका सृष्टिर्भवति अर्थात् वक्ष्यमाणपञ्चज्ञानेन्द्रिय—पञ्चकर्मेन्द्रिय—मनःस्वरूपा सृष्टिर्भवति ॥ २५ ॥

हिन्दी—सत्त्वगुणप्रधान अहंकार से सात्त्विक ११ एकादश इन्द्रिय समुदायात्मक सृष्टि होती है । और तमोगुण से युक्त अहंकार से शब्दतन्मात्रादि-स्वरूपा सृष्टि होती है । तैजस अर्थात् रजोगुण से विशिष्ट अहंकार से दोनों प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं । अर्थात् एकादशेन्द्रिय—गणात्मिका तथा तन्मात्र-गणस्वरूपा ये दोनों सृष्टियाँ होती हैं ॥ २५ ॥

अब हम एकादश इन्द्रियगणात्मक सृष्टि के अन्तर्गत १० बाह्य इन्द्रियों को बतलाते हैं—

(१) बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि ।

वाक्पाणिपादपायूपस्यान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

श्री०—सात्त्विक एकादश इत्युक्तः, यो वैकृतात् सात्त्विक एकादशकः सात्त्विकादहंकारादुत्पद्यते तस्य का संज्ञेत्याह चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि^१ बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते, स्मृत्यतेऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते-स्पर्शनकानीति^२ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान्

१. इन्द्रियाणां प्रकाशकत्वेन प्रकाशधर्मकसत्त्वगुणकार्यत्वानुमानात्सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वं पूर्वकारिकायामुक्तं तत्र कानि पुनस्तानीन्द्रियाणीत्याह-बुद्धीन्द्रियाणीति । बुद्धिसाधनानि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मसाधनानि कर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः ।

२. एकादशक इन्द्रियगणः ।

३. अत्र सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियसामान्यलक्षणं साहचर्यमतेन द्रष्टव्यम् ।

४. बाधस्वरूपमतेनात्र मूले स्पर्शनेन्द्रियस्य त्वक्स्थानत्वात् 'रसनत्वगाद्यानि' इति पाठान्तरं द्रष्टव्यम् ।

बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः कर्म बुवंतीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्ब्रूयति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुत, पादौ गमनागमनं, पायुस्तृणं करोति, उपस्थं आनन्दं प्रजोत्पत्त्या ॥

अन्वय — चक्षुः, श्रोत्रं घ्राण-रसन-त्वगाख्यानि, बुद्धीन्द्रियाणि, वाहुः, वाक्पाणिपादपायु-उपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, आहुः ॥ २६ ॥

व्याख्या—चक्षुः-श्रोत्र-घ्राण-रसन त्वगाख्यानि=एतन्नामकानि बुद्धीन्द्रियाणि = ज्ञानेन्द्रियाणि । आहुः = कथितानि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि = एतन्नामकानि कर्मेन्द्रियाणि । आहुः ॥ २६ ॥

हिन्दी—चक्षुः श्रोत्र (कान) घ्राण (नाक) रसन (जीभ) और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । और वाक् (वाणी) पाणि (हाथ) पाद (पैर) पायु (गुदा) उपस्थ (लिङ्ग) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ २६ ॥

अथ एकादश इन्द्रियो मे मे इग्यारहवीं इन्द्रिय जो मन है उसका निरूपण करते हैं—

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यम् ।

गुणपरिणामविशेषान्नानात् वाह्यमेवाश्च ॥ २७ ॥

गी०—एव बुद्धीन्द्रियवर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, मन एकादशकं विभातमकं किञ्चिद्रूपचेति तदुच्यते—अत्रेन्द्रियवर्गे, मन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् । तस्माद्^१ बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिरूपमिति^२ कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्^३ । किञ्चान्यत् 'इन्द्रियं च साधर्म्यम्' समानधर्मभावात्, सात्त्विकाद्वाह्यत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं

१ दानप्रतिग्रहाद्यात्यक्म् ।

२ जनयति । आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्चनेन क्रमेण वायुपादिज्ञानजनने मनोविच्छिन्नानामेव बुद्धीन्द्रियाणां च स्वस्वविषये प्रवृत्तेर्मन उभयात्मकमिति भावः ।

३ इदमेव नैवमिति सम्यक्त्वमिति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति सङ्कल्पकरव मनस इतरभेदक लक्षणमित्यर्थः ।

प्रति^१, तस्मात् साधर्म्यमिन्द्रियम् । एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि । तत्र मनसः का वृत्तिरिति ? संकल्पो वृत्तिः । बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः ।^२ 'अर्थतान्द्विन्द्रियाणि भिन्नानि भिन्नार्थग्राहकाणि किमोश्वरेण उत स्वभावेन कृतानि, यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्तृ' त्याग्राह-इह सांख्यानं स्वभावो नाम कश्चिद्विस्कारणमस्ति, अत्रोच्यते गुणपरिणामविशेषाध्वानात्वं बाह्य-भेदाच्च, इमान्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां वचनादान-विहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां संकल्पश्च मनसः एवमेते भिन्नानामेवेन्द्रियाणामर्थाः, गुणपरिणामविशेषात्-गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाच्च । अर्थतन्त्रानात्वं नेश्वरेण नाहङ्कारेण न बुद्ध्या न प्रधानेन न पुरुषेण स्वभावात् कृतगुणपरिणामेवेति ।^३ 'गुणानामचेतनत्वात् प्रवर्तते' ? प्रवर्तते एव । कथम् ? वक्ष्यतीहैव—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

^४ एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, ^५ विशेषोऽपि तत्कृत एव येनोच्चैः प्रदेष्टे चक्षुरवलोकनाय स्थितम्, तथा घ्राणं तथा श्रोत्रं तथा जिह्वा स्वदेष्टे स्वार्यग्रहणाय । एवं कर्मेन्द्रियाण्यपि यथागर्थं स्वार्थसमर्थानि स्वदेशाव-

१. नियामिकानीति शेषः ।

२ शङ्कते--अयेति । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्राहकत्वमीश्वरकृतं स्वाभाविकं वा, येन स्वभावेनैव प्रधानादीनामचेतनत्वं चेतनत्वं च पुरुषस्येति शङ्कार्थः । समाधत्ते--इत्यज्ञाहेति । स्वाभाविकमिन्द्रियाणां भिन्नार्थग्राहकत्वमिति समाधानाशयः । एतदेवोत्तरार्धेन प्रतिपादयन्नाह-अत्रोच्यत इति । समाधानार्थ-मुत्तरार्धव्याख्यानेन प्रतिपादयन्नाह-इमानीति । कृतगुणपरिणामेनेत्यन्तग्रन्थेन न न पुरुषादिकृतमिति शेषः ।

३. आक्षेप्ता पृच्छन्ति-गुणानामिति । सत्त्वादीनां गुणानां जडत्वात्तत्साम्यावस्थात्मकं प्रधानं न प्रवर्तते किमिति प्रश्नार्थः । समाधत्ते प्रवर्तते एवेति ।

४. गुणानां प्रवृत्तिप्रकारं दृष्टान्तेन विवृण्वन्नाह-एवमिति ।

५. एकादशेन्द्रियेषु उत्तदिन्द्रियप्रवृत्तिप्रकारोऽपि । तत्कृत एव=अचेतन-गुणकृतएव ।

स्थितानि स्वभावतो गुणपरिणामविशेषादेव न तदर्थं अपि^१, यत उक्त
शास्त्रान्तरे—'गुणागुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्ति सा गुणविपरीता एवेति
बाह्यार्था ज्ञेया गुणकृता ऽश्वेत्यत्र प्रधानस्य कारणमिति ॥ २७ ॥

अन्वय—अत्र, सत्त्विकम्, मन (तच्च) उभयात्मकम्, च, इन्द्रियम्,
(मनश्च) साधर्म्यात्, (तेषाञ्च) गुणपरिणामविशेषात्, नानात्वम्, बाह्य-
भेदाच्च ॥ २७ ॥

व्याख्या—अत्र=एवादशेन्द्रियमध्ये; मन=मनोरूपम् इन्द्रियम्। सत्त्व-
िकम्=इदमेवम् नैवमिति सत्त्वजनकम्। (सत्त्वविकल्पजनकत्वं मनसो लक्ष-
णम्) (तच्च=मन) उभयात्मकम्=ज्ञानेन्द्रियात्मकं कर्मेन्द्रियात्मकञ्च।
(अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च स्व-स्व-विषयेषु प्रवर्तुं कृत्वा
उभयात्मकं भवति, यतः सुपुप्तो मनसि पुरीतति नाह्या प्रविष्टे कापि ज्ञानस्व-
रूपा वृत्तिर्न जायतऽजोऽजृमीयते यतः ज्ञानेन्द्रियाणां-कर्मेन्द्रियाणाञ्च प्रवृत्ति-
कारणं मन एवेति भावः। इन्द्रियञ्च मन=मनस इन्द्रियत्वं च। साधर्म्यात्=
समानधर्मवत्त्वात्, सात्त्विकाहकारोपादानकत्वमित्यर्थः। (अर्थात् सात्त्विका-
हकारोपादानकत्वं यथा दशविधबाह्येन्द्रियाणामस्ति तथा मनसोऽपीति भावः।
(तेषाञ्च इन्द्रियाणाम्) गुणपरिणामविशेषात्=गुणानाम्=सत्त्वरजस्तम-
साम् परिणामविशेषात्=अदृष्टरूपपरिणामभेदात्। नानात्वम्=अनेकत्वम्।
बाह्यभेदाच्च=बाह्यघटपटादीनां यथा अदृष्टभेदाद् भेदा जायन्ते ॥ २७ ॥

हिन्दी—इन ११ इन्द्रियों के मध्य में मन का 'वह बात ऐसी है' 'यह
बात ऐसी नहीं है' इन सत्त्व विकल्पो का कारण माना है, और वह मन
उभयरूप है अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों
को अपने अपने विषयों में प्रवृत्त करनेवाला है अतः यह मन दोनों इन्द्रियस्वरू-
प है। मन प्रथम यह होता है कि मन इन्द्रिय क्यों है? इसका उत्तर दिया
कि 'साधर्म्यात्' अर्थात् सात्त्विक अहकारोपादानकत्वं जैसे दशविध बाह्य
इन्द्रियों का धर्म है वैसे ही मन का भी, अर्थात् सात्त्विक अहकार जैसे बाह्य

१ प्रवर्तन्त इति शेषः। अत्र माठरमते बाह्यभेदाश्वेत्यत्र बाह्यभेदाश्वेति
कारिकापाठः। इन्द्रियाश्चैवादशभेदादपि इन्द्रियाणां भेद इति तदर्थः।

इन्द्रियों का समान रूप से उपादान कारण है वैसे ही मन का भी सात्त्विक अहङ्कार ही उपादान कारण है ।

अब फिर शंका यह होती है कि इकला सात्त्विक अहङ्कार इग्यारह प्रकार की इन्द्रियों को कैसे उत्पन्न करता है ?

इसका समाधान किया कि “गुणपरिणामविशेषान्मानास्वम्” अर्थात् सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों के विलाक्षण भोगों को प्रदान करनेवाले विभिन्न अदृष्ट (भाग्य) रूप परिणाम के भेद से इन्द्रियरूप कार्य का भी भेद मानना आवश्यक है । जैसे घट-पट आदि बाह्यपदार्थों का अदृष्ट भेद से भेद देखने में आता है, एवं एक ही पिता के भाग्य भेद से पुत्र-पौत्र आदि सुन्तान भेद देखने में आता है ॥ २७ ॥

जानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विशेषव्यापारों का प्रदर्शन करते हैं—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमित्यते वृत्तिः ।

वचनादानविहरणोत्सर्गनिन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

श्री०—भवेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते—मात्रशब्दो विशेषार्थः, अविशेषव्यावृत्त्यर्थः^१ यथा—मिलामात्रं लभ्यते, नान्यो विशेष इति, तथा चक्षुः रूप-मात्रे न रसादिषु^२ एवं शेषाप्यपि, तद्यथा—चक्षुषो रूपं जिह्वाया रसः, घ्राणस्य गन्धः, श्रोत्रस्य शब्दः, त्वचः स्पर्शः^३ । एवमेवो बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता, कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गनिन्दाश्च पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः । वाची वचनं, हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं पादयोर्भुक्त-स्वाहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्थानन्दः सुतोत्पत्तिविषयो वृत्तिरिति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

अन्वयः—पञ्चानाम्, शब्दादिषु, आलोचनमात्रम् वृत्तिः, इष्यते, पञ्चानाम्, वचनादानविहरणोत्सर्गनिन्दाश्च, (वृत्तयः इष्यन्ते) ॥ २८ ॥

१. आलोचनमात्रमित्यत्र मात्रशब्दार्थो विशेषोऽविशेषव्यावृत्त्यर्थ इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति ।

२. वृत्ति लभत इति शेषः ।

३. वृत्तिविषय इति शेषः ।

ध्यास्या—पञ्चानाम्=चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकानाम् । शब्दादिषु=शब्द-
स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकेषु विषयेषु । आलोचनमात्रम्=ज्ञानमात्रम् । वृत्ति-
ध्यापार । इष्यते=स्वीक्रियते । पञ्चानाम्=वाक्पाणि-आदि पञ्चकर्मेन्द्रिया-
णाम् । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दोऽत्र=वचनम्=कथनम्, आदानम्=ग्रहणम्,
उत्सर्गं=परित्यागः, (यथा मलस्य) । आनन्द=रति । (वृत्तयः
इष्यन्ते) ॥ २८ ॥

हिन्दी—श्रोत्र चक्षु आदि पाँच बाह्य इन्द्रियो का अपने शब्द—रूप—
स्पर्श आदि विषयो का प्रत्यक्ष करना ही वृत्ति (ध्यापार) माना है । और
वाक्-पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियो का वचन (बोलना) आदान (लेना-देना),
विहरण (भ्रमण), उत्सर्ग (टूटी होना), और आनन्द लेना ये पाँच प्रकार
के ध्यापार बतलाये हैं ॥ २८ ॥

प्रश्न—मन-बुद्धि-अहङ्कार इन तीन प्रकार के अन्तःकरणों का कौन
साधारण ध्यापार है और कौन असाधारण ध्यापार है इस यान को बतलाते हैं ?

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य संघा भवत्यसामान्या ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

गौ०—अधुना बुद्धयहकारमनसामुच्यते^१ स्वालक्षण्यस्वभावा स्वालक्षण्या^२
अध्यवसायो बुद्धिरिति लक्षणमुक्तं संघ बुद्धिवृत्तिः, तथाऽभिमानोऽहकार इत्यभि-
मानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च, सकल्पक मन इति लक्षणमुक्तः, तेन सकल्प एव
मनसो वृत्तिः, त्रयस्य बुद्धयहकारमनसा स्वालक्षण्या व वृत्तिरसामान्या^३ या
प्रागभिहिता^४ बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति । इदानीं
सामान्या वृत्तिराख्यायते—सामान्यकरणवृत्तिः, सामान्येन करणानां वृत्तिः

१ वृत्तिरिति शेषः ।

२ एतन्मने माठरमनेन कारिकायां 'स्वालक्षण्यं वृत्तिरिति पाठो द्रष्टव्यः ।
वृत्तिर्व्यापार इत्यर्थः एतदेवाह-अध्यवसाय इति ।

३ असाधारणी ।

४ पूर्वकारिकायामुक्ता चक्षुरादीनां स्वस्वविषयग्रहणलक्षणा वृत्तिरित्यर्थः,
एव च कारिकायां त्रयस्येति बुद्धीन्द्रियाणामुपलक्षणमेतन्मने माठरमतेऽपि, न
मिश्रमते ।

प्राणाद्या वायवः पञ्च, प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायव सर्वेन्द्रियाणां सामान्या^१ वृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुमुखनासिकान्तर्गोचरः तस्य यत् स्पन्दनं^२ कर्म तत् त्रयोदशविधस्यापि^३ सामान्यवृत्तिः सुप्ति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति, प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वत्र चलन करोतीति प्राणनात् प्राण इत्युच्यते । तथाऽपनयनादपानः, तत्र यत् स्पन्दनं^४ तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य । तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः, तत्र यत् स्पन्दनं^५ तत् सामान्यकरणवृत्तिः । तथा कर्वाहोर्हरणानुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः, तत्रोदाने यत् स्पन्दनं^६ तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः । किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसी शरीरव्याप्याकाशवद् व्यानः, तत्र यत् स्पन्दनं तत्^७ करणजालस्य सामान्यवृत्तिरिति 'एवमेते पञ्चवायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्यवृत्तिरित्यर्थः ॥ २९॥

१. साधारणी । जीवनादिद्वारा सबंकरणव्यापारबीजत्वात्तदन्यव्यतिरेकानुविधायित्वादिभिन्नव्यापारस्य च तद्व्यापारान्वयानुविधायित्वाच्च प्राणादिवायुपञ्चकं साधारणीकरणवृत्तिरित्यर्थः, एतदेव विवृणोति—यस इत्यादिना ।

२. अन्नागनादिक्रियात्मकम् ।

३. मिश्रमते तु पञ्चप्राणादिरूपां सामान्यवृत्तित्वस्यैव, 'बोध्या श्रयाणामपि करणानामित्युक्ते' ।

४. मलमूत्रादेरपनयनम् ।

५. रसानां नाडीप्वनुरूपनयनम् ।

६. रसाधूर्ध्वनयनव्यापारः ।

७. शरीरव्यापनम् ।

८. उपसंहारति-एवमिति । व्यापारभेदवत् हृदि प्राणो गुहेऽपानः समानो नाभिमण्डले । उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥ इत्यादयुक्तदिशा स्यानभेदस्यापि प्राणादिभेदहेतुत्वं श्रेष्ठव्यम् । अत्रेवं तत्त्वम्-एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्थ धारिणी' तिश्रुती वायुतः प्राणस्य पृथक्की' नात्प्राणानां वायुपरिणामविशेषत्वम् किन्तु संहतविहगानां पञ्जरचालनन्यायेन बुद्ध्यादिभिः स्वस्ववृत्तिरजोगुणेन शरीरस्य सदा चालनात्तच्चालनरूपव्यापार एव प्राणादयो न तु पराभिमतपञ्चवायुभेदाः किन्तु बुद्ध्या-

अन्वय — त्रयस्य, स्वालक्षण्यम्, वृत्ति, सा, एषा, असामान्या, भवति सामान्यकरणवृत्ति प्राणाद्या, पञ्चवायव, (भवन्ति) ॥ २९ ॥

व्याख्या — त्रयस्य = बुद्धि-अहङ्कार-मनसाम् । स्वालक्षण्यम् = स्वानि स्वानि लक्षणानि एव । वृत्ति = व्यापार । (यथा अष्टवसाय = निश्चय करना), रूप यद् बुद्धेर्लक्षणमुक्तं तद् बुद्धेर्व्यापार अभिमानरूप लक्षणमहकारस्य व्यापार, सकल्प विवल्पात्मक मनसा व्यापार) सा एष वा (वृत्ति) असा मान्या = असाधारणी, करणानाम् = बुद्धि अहकार-मनसाम्, वृत्ति । अर्थात् त्रिविधकरणानां साधारणी, व्यापारस्तु प्राणाद्या = प्राण अपान-आदय । पञ्च-वायव (एव भवन्ति) ॥ २९ ॥

हिन्दी — बुद्धि-अहङ्कार-मन इन तीन प्रकार के अन्त-करणों के अपने २ लक्षण ही व्यापार माने गये हैं, (जैसे निश्चय करना बुद्धि का व्यापार है, अभिमान करना अहङ्कार का, सकल्प विवल्पा करना मन का व्यापार है,) और ये (अपना २ लक्षण) इनके (तीन प्रकार के अन्त-करणों के) असाधारण (विशेष) हैं । प्राण-अपान आदि पाँच प्रकार की वायुओं को इनका साधारण व्यापार माना गया है ॥ २९ ॥

बाह्येन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहङ्कार इन चारों प्रकार के कारणों के व्यापारों के क्रमशः तथा एक मास होने को बताने हैं—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्विष्टा ।

दृष्टे, तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

गी० — युगपच्चतुष्टयस्य, बुद्ध्याहङ्कारमनसामेकैकैन्द्रियमन्वन्धे सति चतुष्टयं भवति चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविपरीतवसाये युगवद्वृत्तिः, बुद्ध्याहङ्कारमनश्चक्षुषि दिशि देहपालनमेव प्राणादय तथा च वायुतुल्यसञ्चारवत्त्वेन वायुदेवनाधिष्ठित-तथा वा प्राणादीनां वायुशब्दश्चाच्यतेति ।

१ बाह्येन्द्रियेषु कस्यचिदकस्येन्द्रियस्य बुद्ध्याहङ्कारमनोऽप्याभ्यन्तरकरणं सयोगे चतुष्टयं जायते तस्य प्रत्यक्षजनने एकदेव व्यापारा भवन्तीत्यस्य चक्षुषादौ क्रमेणोदाहरणमाह—बुद्धीति । यथा विद्युत्सपाते स्यान्नुप्याघ्रादाविन्द्रियसन्निकर्षे

युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति स्थाणुरयमिति । बुद्धचहंकारमनोजिह्वा युगपद्रसं
गृह्णन्ति । बुद्धचहंकारमनोघ्राणानि युगपद्गन्धं गृह्णन्ति । तथा त्वक्श्रोत्रे अपि ।
किञ्च क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा, नस्येति चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति ।
यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा स्थाणुरय पुरुषो वेतिसशये सति तत्रो-
परुद्धं तल्लिङ्गं पश्यति अकुर्वन् वा, तत्तस्तस्य मनसा सकल्पिते संशये व्यवच्छेद-
भूता^१ बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति असौऽहंकारश्च निश्चयार्थः^२ स्थाणुरेवेति,
इत्येवं बुद्धचहंकारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा, यथा रूपे तथा शब्दादिष्वपि
दोषव्या । दृष्टे दृष्टविषये । किञ्चान्यत् तयाऽप्यदृष्टे त्रयस्य यत्पूर्विका
वृत्तिः अदृष्टेऽनागतेऽस्तीति च काले बुद्धचहंकारमनसां रूपं चक्षु पूर्विका त्रयस्य
वृत्तिः स्पर्शं त्वक्पूर्विका, गन्धे घ्राणपूर्विका, रसे रसपूर्विका, शब्दे श्रवणपूर्विका,
बुद्धचहंकारमनसामनागते भविष्यति कालेऽस्तीति च तत्पूर्विका क्रमशो वृत्तिः, वृत्ति-
माने युगपत् क्रमशश्चेति^३ ॥ ३० ॥

अन्वयः—दृष्टे, चतुष्टयस्य, तु वृत्तिः, युगपत् क्रमशश्च, निर्दिष्टा तथा
अदृष्टे, अपि, तत्पूर्विका, त्रयस्य, वृत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा ॥ ३० ॥

व्याख्या—दृष्टे = प्रत्यक्षविषयीभूतेषु पदार्थेषु । तस्य । चतुष्टयस्य = बाह्ये-
न्द्रिय-बुद्धि-अहंकार-मनसाम् तु वृत्तिः = व्यापारः । युगपत् = एकस्मिन् काले ।
क्रमशश्च । निर्दिष्टा = कथिता । तथा = तथैव । अदृष्टेऽपि = अप्रत्यक्षविषयी-

युगपदेव निविकल्पक-सविकल्पकाभिमानाध्यवभाया उत्पद्यन्ते यतस्ततो ज्ञातित्व-
पसरतीत्यर्थः । एवं रासनादिप्रत्यक्षेऽपि द्रष्टव्यम् ।

१ पुरुषकोटिर्वावर्तिका ।

२ निर्णयफलकः, अध्यवसायजनक इति यावत्, ततश्च बुद्धिख्यासारोऽध्य-
वसायो भवतीत्याह-स्थाणुरेवेति ।

३ अदृष्टे परोक्षविषयेऽपि त्रयस्येन्द्रियरहितत्रयस्य युगपत्क्रमशश्च व्यापारा
भवन्ति, अनुमानशब्दयोर्विषये इन्द्रियाप्रवृत्तेस्त्रयस्येत्पुक्तम्, तयोर्विषये निविकल्प-
काभावात् प्रथमं मनस एव व्यापार इति मिथ्याः । अनुमानशब्दविषये वृत्तिर्हि
तत्पूर्विका दृष्टपूर्विकेति विज्ञेयः अनुमाने व्याप्तिज्ञानार्थं शब्दे च शक्त्यनुमाना-
पेक्षया प्रत्ययपेक्षेति नारायणी ।

भूतेष्वपि पदार्थे । तत्पूर्विका = दृष्टपूर्विका । त्रयस्य = बुद्धि-अहंकार-मनसाम् ।
वृत्ति = व्यापार । (युगपत्, क्रमशश्च भवन्ति इति साख्ये स्वीकृतम्) ॥ ३० ॥

हिन्दी—प्रत्यक्षविषयीभूतपदार्थों के विषय में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियां तथा मन-अहंकार बुद्धि इन चारों के देखना सकल्प, अभिमान एवं निश्चयात्मक समस्त व्यापार कभी तो युगपत् (एक काल) ही में हो जाते हैं । और कभी क्रम से भी होते हैं ।

युगपत् जैसे घोर अन्धकार में बिजली की चमकमाहट से अचानक किसी शेर बगीचे को सामने देखकर वह देखने वाला व्यक्ति पूर्वोक्त देखना तथा सकल्प आदि सब व्यापारों को एक ही काल में सम्पन्न कर लेता है जिससे कि उसी क्षण वह वहाँ से भाग निकलता है ।

क्रमशः जैसे मन्द आलोक में सर्वप्रथम उस सामने वाली वस्तु को देखता है, इसके बाद यह चोर है ऐसा सकल्प करता है, फिर यह तो मेरी ही तरफ आ रहा है ऐसा अभिमान करता है, इसके अनन्तर “मुझे यहाँ से हट जाना चाहिए” ऐसा निश्चय करता है, ये सब व्यापार क्रमिक हैं ।

इसी प्रकार अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) स्थलीय पदार्थों के विषय में भी बाह्य इन्द्रियों को छोड़कर मन-अहंकार-बुद्धि-इन तीन कारणों के व्यापार में भी वैसे ही अर्थात् प्रत्यक्षस्थलीय पदार्थों के समान ही होते हैं—अर्थात् युगपत् और क्रमशः । अन्तर इतना ही है कि परोक्षस्थलीय जो अनुमिति-शब्दबोध-स्मृति रूप व्यापार हैं वे प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं, जैसे अनुमिति व्याप्तिज्ञानरूप प्रत्यक्ष-आत्मव्यापारपूर्वक हैं, शब्दबोध शक्तिज्ञानरूपप्रत्यक्ष-आत्मव्यापारपूर्वक हैं । स्मृति अनुभवरूपप्रत्यक्ष-आत्मव्यापारपूर्वक हैं ॥ ३० ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त चारों कारण अपने-अपने व्यापार को क्या परस्पर में सापेक्ष होकर सम्पन्न करने हैं । अथवा निरपेक्ष होकर ।

स्वां स्वा प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुका वृत्तिम् ।

पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

गो०—किञ्च स्वा स्वामिति वीप्सा, बुद्ध्यहंकारमनासि स्वा स्वा वृत्तिः ।

परस्पराकृतहेतुकाम् 'आकृतमादरसम्भ्रम' इति, प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थकरणाय बुद्धिरहङ्कारादयः । बुद्धिरहङ्काराकृतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते^१ । 'किमर्थमिति चेत् पुरुषार्थ एव हेतुः, पुरुषार्थः कर्तव्य इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः, तस्या-
देशानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति, 'यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्तन्ते ?'
न केनचित् कार्यते करणम्, पुरुषार्थ एवैकः कार्यतीति वाक्यार्थः, न केन-
चित्, ईश्वरेण पुरुषेण वा, कार्यते प्रबोध्यते करणम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—(करणानि) परस्पराकृतहेतुकाम्, स्वाम्, स्वाम्, बुद्धिम्
प्रतिपद्यन्ते, (अत्र) पुरुषार्थ एव, हेतुः, केनचित्, करणम्, न, कार्यते ॥ ३१ ॥

व्याख्या—(करणानि) । परस्पराकृतहेतुकाम्=परस्परम् । (करणानाम्)
यत् आकृतम्=संकेतः । यथा—“मनसः संकल्पः, अहंकारस्य अभिमानः,
बुद्धेरध्यवसायः, चक्षुःश्रोत्रादीनां दर्शनश्रवणादिकम्, वाक्पाणि-आदिकर्मेन्द्रिया-
दीनां कचन-आदान-आदिकम्” तादृशसंकेत एव हेतुर्यत्र ताम् इत्यर्थः, स्वां स्वाम्=
स्वकीयाम्-स्वकीयाम् । बुद्धिः=व्यापारम् । प्रतिपद्यन्ते=प्राप्नुवन्ति । (यत्र=
वृत्तपुत्पत्ती को हेतुः) इत्यग्राह-पुरुषार्थ एव=भोगापवर्गस्वरूपः पुरुषार्थ एव ।
हेतुः=कारणम् । केनचित्=भोगापवर्गरूपपुरुषार्थातिरिक्तेन चेतनेन । करणम्=
वक्ष्यमाणं प्रयोदशविधम् इन्द्रियादिरूपम् । न कार्यते=न हि प्रेर्यते ॥ ३१ ॥

हिन्दी—दश चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियां तथा मन, अहंकार, बुद्धि—ये तीरह
(१३) प्रकार के करण परस्पराकृतहेतुक (परस्पर का आकृत=संकेत है कारण
जिसमें ऐसे) अपने-अपने व्यापार को जीवित शरीर में रहकर निरपेक्ष रूप से स्वयं

१. आकृतशब्दार्थमाह—आकृतेति । प्रवृत्त्युत्पत्तित्वमित्यर्थः, अचेतने-
ष्वभिप्रायरूपस्याकृतस्यासम्भवात् ।

२. अनेनेन्द्रियाध्यपाराधीनत्वान्मनसोऽहङ्कारमहतोर्मनोहङ्कारव्यापाराधीन-
त्वाच्च पूर्वोक्तो युगपद्वृत्तिपक्षो न संभवतीति पूर्वपक्षो निरस्तो वेदितव्यः ।

३. आक्षेपा पृच्छति—यदीति । यदि साध्यमते करणान्यचेतनानि कथं तेषां
प्रवृत्तिरिति प्रश्नार्थः । स्वभाववादमाश्रित्य समाधत्ते—न केनचिदिति । भोगा-
पवर्गलक्षणपुरुषार्थं नैवाचेतनकरणप्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्स्वभावतत्तेषां प्रवृत्ति-
रित्यर्थः, 'वत्सविवृद्धिनिमित्तमित्यत्रैतदग्रे स्वयं विवेचयिष्यते ।

सम्पन्न करते रहते हैं जिसमें कि पुरुष का भोगापवर्ग्य अर्थ (प्रयोजन) निवृत्त होता रह । जिस प्रकार सैनिकयोद्धा लोग शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन-जिन शस्त्रास्त्रों को चलाने में कुशल होते हैं उन्हीं-उन्हीं अपने अपने शस्त्रों को लेकर युद्ध करते हैं । इसी प्रकार इन तेरह प्रकार के कारणों के जो उन अपने-अपने व्यापार हैं जैसे दशविधा चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के व्यापार आलोचन आदि हैं, मन का सकृत्प, अहंकार का अभिमान, तथा बुद्धि का निश्चयारम्भ व्यापार है । इन व्यापारों को इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न करने में पुरुष का भोगापवर्ग्य अर्थ (प्रयोजन) ही कारण है । यह नहीं है कि इन कारणों को अपने-अपने व्यापारों को सम्पन्न करने के लिए ईश्वर रूप चेतन तरंग प्रेरित करता हो ॥ ३१ ॥

प्रश्न—करण कितने हैं और उनका कार्य क्या क्या है ?

करण त्रयोदशविध तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।

कार्यं च तस्य दशधा ह्यर्थं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥

गौ०—बुद्ध्यादि कतिविध तद्विष्यते—करण त्रयोदशविध बोद्धव्यम्, महदादित्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति, त्रयोदशविध करणम् । तत् किं करोतीत्येतद्दश^१ तदाहरणधरणप्रकाशकरम् । तदाहरण धारण च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाश बुद्धीन्द्रियाणि^२ । कतिविध कार्यं तस्मैति तदुच्यते—कार्यं च तस्य दशधा, तस्य करणस्य कार्यं कतमिति दशधा दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्य वचनादानविहरणोत्सर्गान्दाह्यमेतद्दशविध कार्यं, बुद्धीन्द्रियं प्रकाशित कर्मेन्द्रियाण्याहरति धारयन्ति^३ चेति ॥ ३२ ॥

१ कारकविशेषस्य करणत्वाद्वाच्यत्वावेव विना कारकत्वामम्भवाद्वाच्यत्वावेवमाहेत्यर्थः ।

२ आहरण कर्मेन्द्रियाणाम्, धारण महदहङ्कारमनसा स्ववृत्तिप्राणादि पञ्चनद्वारा देहधारणात्, प्रकाशो बुद्धीन्द्रियाणां व्यापार इति मिथ्यादयः ।

३ मिथ्यादिमते प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरमन्त करणत्रयमेव धारयतीति तस्यैव धार्यं कार्यं बोद्धव्यम् ।

अन्वयः—करणम्, त्रयोदशविधम्, तत्, आहरण-धारण-प्रकाशकरणम्, च, तस्य, कार्यम्, दशधा, आहार्यम्, धार्यम्, च, प्रकाश्यम् ॥ ३२ ॥

व्याख्या—करणम्=व्यापारवत् कारणम् । त्रयोदशविधम्=चक्षुरादिपञ्च-
ज्ञानेन्द्रियाणि आहरणकराणि—यतस्तानि विषयान् आहरन्ति अर्थात् विषयाणां
ग्रहणात्मिकां क्रियां सम्पादयन्ति, मनोऽहंकारबुद्धयः, धारणकराणि एते प्राणादि-
द्वारा शरीरं धारयन्ति, ज्ञानेन्द्रियाणि प्रकाशकराणि अर्थात् विषयाणां ज्ञानात्मिकां
क्रियां संपादयन्ति । च । तस्य=त्रयोदशविधकरणस्य । कार्यम्, दशधा=दशप्रकार-
कम् । (वर्तते) आहार्यम्=आहरणयोग्यम्, ग्रहणयोग्यमित्यर्थः । धार्यम्=धारण-
योग्यम् । च प्रकाश्यम्=जातुं योग्यम् ।

अपमाशयः—कर्मैन्द्रियाणां ये वचन-आदान-विहरण-उत्सर्ग-आनन्दस्वरूपाः
कर्मैन्द्रियैर्ग्राह्याः पञ्च विषयाः सन्ति ते दिव्य-अदिव्यभेदेन दशधा वर्तन्ते, तत्र
देवताप्रभृतीनां वचनादयो दिव्याः, अस्मदादीनाञ्च अदिव्याः ।

एवं ज्ञानेन्द्रियैर्धारणयोग्याः रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दात्मकाः पञ्च विषया अपि
दिव्यादिव्यभेदाद्दशधा भवन्ति । दिव्या देवानामदिव्या आस्मदादीनाम् ।

एवमेव मनोऽहंकारबुद्धिभिर्धारणयोग्या ये पाञ्चभौतिकशरीरस्वरूपाः पञ्च
विषयाः सन्ति तेऽपि दिव्यादिव्यभेदेन दशधा भवन्ति, तत्र देवादीनां शरीराणि
दिव्यानि अस्मदादीनाञ्च शरीराणि अदिव्यानि ।

हिन्दी—संसार के अन्दर किसी भी पदार्थ को ग्रहण करना, धारण
करना या प्रकाश करना पूर्वोक्त त्रयोदशविध करण के अधीन होता है यह
साक्ष्य का कहना है, परन्तु प्रकार भिन्न-भिन्न हैं जैसे कर्मैन्द्रियों वचन,
आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द इनका ग्रहण करती हैं अतः कर्मैन्द्रियों
का वचन आदि का ग्रहण करना ही व्यापार है । मन-अहंकार-बुद्धि—ये
प्राणादि पाँच वायुओं के आधार पर शरीर को धारण करते हैं अतः इनका
शरीर को धारण करना ही व्यापार है और चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों रूपादि
तथा रूपादिमान् घट-पट आदि विषयों का प्रकाशन करती हैं । अतः उनका
यही व्यापार है ।

और इन तरह प्रकार के करणों का आहार्य-छात्र्य प्रकाश्य यह प्रत्येक
दस प्रकार का कार्य होता है अर्थात् आहार्य भी दस प्रकार का, धार्य भी दस
प्रकार का और प्रकाश्य भी दस प्रकार का है । जैसे वाक्पादि पाँच कर्मैन्द्रियों के
वचन आदि जो पाँच ग्राह्य विषय हैं वे दिव्य (अलौकिक) अदिव्य (लौकिक)

भेद से दस प्रकार के हो जाते हैं । अर्थात् स्वर्गलोक में रहने वाले देवता लोगो के वचन आदि विषय दिव्य हैं और अस्मदादि के अदिव्य हैं । इसी प्रकार मन-ब्रह्मकार बुद्धि इनके द्वारा धारण किये जाने वाले देवता लोगो के पाँच भौतिक शरीर आदि दिव्य हैं और अस्मदादिमो के अदिव्य हैं अतः वे भी दस प्रकार के हैं ।

ऐसे ही देवताओं की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रकाश्य शब्दादि पाँच विषय दिव्य हैं और हम लोगों के अदिव्य हैं अतः वे भी दस हैं ॥ ३२ ॥

पूर्वोक्त त्रयोदशविधकरणों के बाह्य आभ्यन्तर भेद से द्विविध्य का प्रदर्शन करते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।

साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

श्री०—किञ्च—अन्तःकरणमिति । बुद्धपहङ्कारमनासि त्रिविधं महदादि-भेदात्^१, दशधा बाह्यं च, बुद्धेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि^२ च दशविधमेतद् करणं बाह्यम्, तत्रयस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं बुद्धपहङ्कारमनसा^३ भोग्यं साम्प्रतकालं—“श्रोत्रं वर्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तं चक्षुरपि वर्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतं, त्वग्वर्तमानं स्पर्शं, जिह्वा वर्तमानं रसं, नासिका वर्तमानं गन्धं नातीतानागतं चेति । एव कर्मेन्द्रियाणि वाग्वर्तमानं शब्दमुच्चारयति नातीतं नानागतं, पाणी वर्तमानं घटमाददाते नातीतमनागतं च, पादौ वर्तमानं पण्यं विहरते नातीतं नाप्यनागतं, पायूपस्थौ च वर्तमानाबुत्सर्गान् दी कुरुते नातीतौ नानागतौ, एव बाह्यं करणं साम्प्रतकालं-

१ अभ्यन्तरवृत्तिरवादान्तःकरणमित्युच्यते इत्यर्थः ।

२ व्यापारजनकम्, मनोऽहङ्कारबुद्धीनां व्यापारेषु बुद्धेन्द्रियव्यापारस्मोदयोगात्, कर्मेन्द्रियव्यापारस्यापि ज्ञानेन्द्रियव्यापारद्वाराज्ज्ञतः करणव्यापारे उपयोगः, कर्मेन्द्रियव्यापारेण जनिते पदार्थं बुद्धेन्द्रियप्रवृत्त्यन्तःकरणप्रवृत्तेरित्यर्थः ।

३ बाह्याभ्यन्तरकरणयोर्विशेषान्तरमाह—साम्प्रतकालमिति । तदेव विशदयति श्रोत्रमिति ।

४ मन्वपुक्तमेतद् उच्चारणविषयशब्दस्य पूर्वमसिद्धत्वेनानागतत्वात् च यद्यपिन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वमिति चेत् । ‘वर्तमानसामोप्ये वर्तमानवद्वे’ति पाणिनीयानुशामननियमेन वर्तमानमभीपस्यानागतत्वापि शब्दस्य वर्तमानत्वाभ्युपगमात् दोषः ।

भुक्तम् । त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् बुद्धयहङ्कारमनासि त्रिकालविषयाणि बुद्धिर्वर्तमानं घटं बुध्यते अतीतमनागतं चेति, बहङ्कारो वर्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च, तथा मनो वर्तमाने सङ्कल्पं कुस्तेऽतीतेऽनागते' च, एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अन्तःकरणम्, त्रिविधम्, दशधा बाह्यम्, त्रयस्य विषयाह्वयम्, बाह्यम्, साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरम्, करणम्, त्रिकालम् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—अन्तःकरणम्=शरीराभ्यन्तरवर्ति करणम् । त्रिविधम्=मनो-
हंकारबुद्धिरूपम् । दशधा=दशविधम् करणम् । बाह्यम्=पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्च-
कर्मेन्द्रियरूपम् । त्रयस्य=मनोऽहङ्कारबुद्धीनाम् । विषयाह्वयम्=त्रिषयसमर्पकम्
अर्थात् विषयसमर्पकतया सहकारि भवतीत्यर्थः । (दशविधं करणं रूपादि
षटादिविषयान् गृहीत्वा मनोऽहङ्कारबुद्धिम्यः समर्पयतीत्यर्थः, बाह्यम्=दशविधं
बाह्यं करणम् । साम्प्रतकालम्=वर्तमानकालीनविषयग्राहकम् । आभ्यन्तरम्=
शरीराभ्यन्तरवर्ति । करणम्=मनोऽहङ्कारबुद्धयः) त्रिकालम्=भूत-भविष्यद्-
वर्तमानकालीनविषयग्राहकम् (वर्तते) ॥ ३३ ॥

हिन्दी—मन अहंकार बुद्धि इन्हें शरीर के अन्दर रहने से अन्दर के करण
रहा है । और चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये
दस प्रकार के बाह्यकरण रूपादि विषयों को ग्रहण करके मन-अहंकार बुद्धि इन
तीन आभ्यन्तरकरणों के लिये समर्पित करते हैं । विशेषतः यह है कि बाह्यकरण
साम्प्रत (वर्तमान) कालीन विषयों के ही ग्राहक हैं, और आभ्यन्तर करण
भूत-भविष्यद् वर्तमान इन तीनों कालों के विषयों के ग्राहक हैं । अर्थात् अनुमान
और शब्द की सहायता के आधार पर तीनों आभ्यन्तर करण भूत-भविष्य
कालीन विषयों के ग्राहक हैं, और इन्द्रियों के द्वारा वर्तमानकालीन विषयों का
ग्रहण करते हैं ॥ ३३ ॥

प्रश्न—पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रियरूप दशविधकरणों में से कौन सी
इन्द्रियाँ विशेष (स्थूल) विषय की ग्राहक हैं और कौन अविशेष (सूक्ष्म)
विषयों की ग्राहक हैं ?

१. कर्मेन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वं बुद्धीन्द्रियद्वारेण चन्द्रिकाकारः । अनुमान-
विसहकारेणातीतानागतविषयकम्, इन्द्रियसहकारेण वर्तमानविषयकमिति
चिद् ।

बुद्धेन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।

वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

गो०—इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेष विषयं गृह्णन्ति, कानि निविशेष मिति तदुच्यते^१—बुद्धेन्द्रियाणि तेषां सविशेष विषयं गृह्णन्ति, सविशेषविषय मानुषाणां, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धेन्द्रियानि प्रकाशयन्ति । देवानां^२ निविशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति । तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये वाग्भवति शब्दविषया, देवानां मानुषाणां वाग्वदति श्लोकादीनुच्चारयति,^३ तस्माद् देवानां मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम् । शेषाण्यपि वाग्व्याप्तिरित्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि पञ्चविषयाणि, पञ्च विषया शब्दादयो येषां तानि पञ्चविषयाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा पाणौ सन्ति^४ पञ्चशब्दादिसंज्ञनाया भुवि पादौ विहरति, पथिन्द्रियं पञ्चवक्त्रमुत्सर्गं करोति, तयोपस्थेन्द्रियं पञ्चसंज्ञं शुकमानन्दयति ॥ ३४ ॥

अन्वय —तेषाम्, पञ्च, बुद्धेन्द्रियाणि, विशेषाविशेषविषयाणि, वाक्, शब्द विषया, भवति, शेषाणि, तु, पञ्चविषयाणि, (भवन्ति) ।

व्याख्या—तेषाम् = दशविषयाहोन्द्रियाणां मध्ये । पञ्च बुद्धेन्द्रियाणि = चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि । विशेषाविशेषविषयाणि । विशेषा = स्थूला रूपादयः सविशेषा = तन्मात्रस्वरूपा सूक्ष्मा रूपादयः, त एव विषया येषां तानि = स्थूल सूक्ष्मोभयविधरूपादिविषयग्राहकाणीत्यर्थः । (अस्माकं चक्षुरादीन्द्रियाणि स्थूल रूपादिविषयान् गृह्णन्ति-देवतानाञ्चेन्द्रियाणि सूक्ष्मान्) वाक् = वागिन्द्रियम् । शब्दविषया = शब्दात्मकविषयग्राहिका । शेषाणि = पाणि-पाद-प्रभृति-अवशिष्टानि कर्मेन्द्रियाणि । पञ्चविषयाणि = पञ्च विषया शब्दादयो येषां तानि । (पाणि

१ माप्रतबाज्ञाना बाह्येन्द्रियाणां मध्ये तेषां स्थूलशब्दादिग्राहकत्वं तेषां वा सूक्ष्मपञ्चतन्मात्रादिग्राहकत्वमिति विविच्यत इत्यर्थः ।

२ इदमुपलक्षणम्, ऊर्ध्वस्रोतसा योगिना च बुद्धेन्द्रियाण्यतीन्द्रियविषयान् प्रकाशयन्तीति ।

३ श्लोकाद्यात्मकं स्थूलशब्दं, न तु तन्मात्ररूपं तस्याहकारजन्यत्वेन वागिन्द्रियेण महैकारणकत्वादत्त सर्वेषां वागिन्द्रियं समानमेतदेवाह—तस्मादिति ।

४ पाण्याद्याहर्षाणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वात्पञ्चविषयत्वमित्यप्ये ।

शब्दादिष्वविषयसहितं घटं गृह्णाति, एवं पादादि इन्द्रियविषयसहितं गृह्णाति । ॥ ३४ ॥

हिन्दी—पूर्वोक्त दस प्रकार की बाह्य इन्द्रियों में से चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्दादि पाँच विशेष (स्थूल) तथा अविशेष (सूक्ष्म) शब्दादि विषयों को ग्रहण करती रहती हैं, जिनमें हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूलशब्दादि विषयों की ग्राहक हैं और वेबता तथा योगियों की ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्मस्थूल दोनों प्रकार के शब्दादि विषयों की ग्राहक हैं। कर्मेन्द्रियों में से चक्षु इन्द्रिय एक मात्र स्थूल शब्द का ही ग्रहण कर पाती है। और शेष पाणि-वादि आदि कर्मेन्द्रियाँ शब्दादि पाँच विषयों को ग्रहण करती हैं कारण कि वे जब शब्दादि विषयों से सहित घट-पट आदि विषयों का ग्रहण कर लेती हैं ॥ ३४ ॥

अब हम तेरह प्रकार के करणों में वसविद्य बाह्य इन्द्रियरूप करणों की अप्रधानता और तीन प्रकार आभ्यन्तर करणों की प्रधानता को सहेतुक बतलाते हैं—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।

तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

गौ०—सान्तःकरणा^१ बुद्धिः, अहङ्कारमनःसहितैतव्यः, यस्मात् सर्वं विषयमवगाहते गृह्णाति, त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि करणानीति वाक्यशेषः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—यस्मात्, सान्तःकरणा, बुद्धिः, सर्वम्, विषयम्, अवगाहते, तस्मात्, त्रिविधम्, करणम्, द्वारि, शेषाणि, द्वाराणि ॥ ३५ ॥

व्याख्या—यस्मात्=यस्मात् कारणात् । सान्तःकरणा=मनोऽहङ्काररूपः अन्तःकरणसहिता । बुद्धिः । सर्वम् । विषयम्=त्रिकालवृत्तिम् समस्तमपि विषयम् । अवगाहते=निश्चिनीति । तस्मात्=तस्मात् कारणात् । त्रिविधम् । करणम्=मनोऽहङ्कारबुद्ध्यः । द्वारि=व्यापारवत्, (प्रधानम्) । शेषाणि=अवशिष्टानि करणानि बाह्येन्द्रियस्वरूपाणि । द्वाराणि=व्यापाराणि, अप्रधानभूतानि सन्तीति शेषः ।

१. प्रयोदशकरणेषु बाह्येन्द्रियाणामप्राधान्यमन्तःकरणत्रयस्य प्राधान्यं च वक्तुमाह—सान्तःकरणेति ।

२. बाह्येन्द्रियैरपनीतं सर्वविषयं समनोहंकारा बुद्धिर्यस्मादप्यवस्थतीत्यर्थः, तथापि विशेषमाह—त्रिष्वपीति । द्वारि प्रधानम् ।

अप्रमाशय — चक्षुरादिबाह्येन्द्रियाणि षट षट-आदि-विषयान् गृहीत्वा
अन्तःकरणाय (मनसे) समर्पयन्ति अतो बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, मनो द्वारि
मनस्य तेषु पदार्थेषु मध्ये सक्त्वविवर्त्त्यादिव कृत्वा तान् पदार्थान् अहकाराय
समर्पयन्ति अतोऽत्र मनो द्वारम् अहङ्कारश्च द्वारी, अहङ्कारश्च मनोद्वारा समर्पितान्
तान् पदार्थान् अभिमत्य बुद्धिर्भूतं समर्पयति अत्र अहकारस्य द्वारत्वं बुद्धेश्च द्वारित्वम्,
बुद्धिरपि तान् पदार्थान् सम्यग् विनिश्चित्य आत्मभूताय पुरुषाय समर्पयति अत्र
च बुद्धेर्द्वारत्वं पुरुषस्य च द्वारित्वं समुपपन्नम् । परन्तु बाह्यकरण आत्म्य-
करणयोर्मध्ये आत्म्यन्तरकरणाणामेव द्वारित्वम् (प्राधान्यम्), बाह्यकरणाणां च
द्वारत्वम् (अप्राधान्यम्) आत्म्यन्तरकरणाणां च मध्ये बुद्धरेव सर्वथा प्राधान्यम् ।

हिन्दी—मन तथा अहकार सहित बुद्धि जिस कारण सभी बाह्य इन्द्रिया
से प्राप्त किये विषयो का पुरुष के योग के लिये निश्चय करती है, इस कारण
तीनों भीतरी करण द्वारि—प्रधान हैं और बाकी के इस बाह्य इन्द्रिय द्वार
अप्रधान हैं, क्योंकि साक्षात् या परम्परा से बाह्येन्द्रियों के द्वारा ही भीतरी
करण विषयो में अपना-अपना व्यापार करते हैं ॥ ३५ ॥

बुद्धि केवल बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा ही प्रधान नहीं है अपितु मन-अहकार
की अपेक्षा भी वह प्रधान ही है—इसी बात को बतलाते हैं—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

गी०—विज्ञायत्-यानि करणानुक्तानि एते गुणविशेषा, किंविशिष्टा ?
प्रदीपकल्पा प्रदीपवद्विषयप्रकाशका, परस्परविलक्षणा असदृशा द्विज
विषया इत्यर्थः । गुणविशेषा इति । गुणविशेषा गुणेष्वेव जाता ^१ । कृत्स्नं
पुरुषार्थं बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्व स्वमर्थं पुरुषस्य
प्रकाशय बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धिस्तु श्रुर्वन्तीत्यर्थः, ^२ यतो बुद्धिस्तु सर्वं विषयं
सुखादिव पुरुष उपलभ्यते ॥ ३६ ॥

१ सारवरजस्तमसा विवास इत्यर्थः । गुणानां भेदा सत्त्वाद्या येषु ते
वयोक्ता इति चन्द्रिकाकारः ।

२ यथा ग्रामाध्यक्ष कीटुम्बिकेभ्यः क्रमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति,
विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपत्ये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे तन्व

अन्वयः—एते परस्परविलक्षणः गुणविशेषाः, प्रदीपकत्वाः, पुरुषस्य, कृत्स्नम्, अर्थम्, प्रकाशं, बुद्धी, प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

व्याख्या—परस्परविलक्षणः=परस्परविरोधविषयग्राहकः । गुणविशेषाः=सत्त्वरजस्तमसां परिणामभूताः । एते=चक्षुरादिवामिन्द्रियदण्डकं मनोऽहंकाराद्वादश । प्रदीपकत्वाः=प्रदीपवद् विषयप्रकाशकाः (ग्राहकाः) । पुरुषस्य=आत्मनः । कृत्स्नं=समस्तं । अर्थं=विषयजातम् । प्रकाशं=प्रकाशं नीत्वा । बुद्धी=महत्तत्त्वे प्रयच्छन्ति अर्पयन्ति । (बुद्धिश्च पुनः तत् समस्तं भोग्यजातं पुरुषाय समर्पयति । यथा ग्रामाध्यक्षा ग्रामीणव्यक्तिभ्यः करं गृहीत्वा जनपदाध्यक्षाय (जिलाध्यक्षाय) प्रयच्छति, स च स्वोपरिवर्तिने, सोऽपि राज्यमण्डलस्य सर्वेषामध्यक्षभूतानामुपरिवर्तिने प्रधानमन्त्रिणे ददाति, प्रधानमंत्री च तादृशसमस्त-देशस्वामिने राशे प्रयच्छति । एवमेव दशविधावाहोन्द्रियाणि स्वस्वविषयमालोच्य स्वाध्यक्षभूताय मनसे समर्पयन्ति, मनश्च “इदमेवं नैव”मिति संकल्प्य जिलाध्यक्षस्थानीयाहंकाराय, स च प्रधानमन्त्रिस्थानीयबुद्धये समर्पयन्ति, बुद्धिश्च सर्वतोभावेन विनिश्चित्य भूपतिस्थानीयपुरुषाय प्रयच्छति ।) तदेवोक्तम्—“कृत्स्नं पुरुषस्यार्थमित्यादि” ।

हिन्दी—सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण इन तीनों गुणों के परिणाम-भूत परस्पर विरोधी विषयों के ग्राहक तथा दीपक के समान विरोधी विषयों से सम्पन्न होते हुए भी एकत्र मिलकर कार्य करने वाले ये दशविध बाह्य इन्द्रिय, मन और अहंकार पुरुषार्थ साधनभूत सांसारिक समस्त घट-पट आदि विषयों को ग्रहण कर बुद्धि के लिये समर्पण कर देते हैं ॥ ३६ ॥

बुद्धि के सबकी अपेक्षा प्रधान होने में दूसरी युक्ति भी बतलाते हैं—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

गो०—इदञ्चान्यद् सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु सर्वं प्रत्युपभोगपुनः

सङ्कल्प्याहङ्काराय स चाभिमत्य सर्वाध्यक्षरूपायां बुद्धौ प्रयच्छतीत्यर्थः । बुद्धिस्तु-करणे हेतुमाह—यत् इति ।

१. बुद्धिरपि न स्वार्थी किन्तु परार्थत्वाह-सर्वमिति नारायणः । कस्मात्पुन-बुद्धौ प्रयच्छन्ति न तु बुद्धिरहङ्काराय द्वारिणे मनसे वेत्तयत आहृति मिथ्याः ।

भोग प्रति देवमनुष्यतिर्यग्बुद्धीन्द्रियद्वारेण सान्त करणा बुद्धि साधयति सम्पादयति^१ यस्मात् तस्मात् सैव च विशिनष्टि प्रधानपुरुषयोर्विषयविभाग करोति, प्रधानपुरुषान्तर^२ नानात्वमित्यर्थं, सूक्ष्ममित्यनधिकृतनपञ्चरणैरप्राप्यम्, इय प्रकृति सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था इय बुद्धिरयमहङ्कार एतानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्ययमन्य पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त इत्येव बोधयति बुद्धि, यस्यावापा^३दपवर्गो भवति ॥ ३७ ॥

अन्वय —यस्मात्, बुद्धि, सर्वम्, प्रत्युपभोगम्, पुरुषस्य, साधयति, सैव च, पुन सूक्ष्मम्, प्रधानपुरुषान्तरम्, विशिनष्टि ॥ ३७ ॥

व्याख्या —यस्मात्=यस्मात् कारणात् । बुद्धि । सर्वम् । प्रत्युपभोगम्=सुख दुःखादि-समस्तविषयाणां साक्षात्कारम् । पुरुषस्य=पुरुषस्य कृते । साधयति=साम्पादयति । च । सैव=बुद्धिरेव । पुनः । सूक्ष्मम्=अज्ञायमानम् । प्रधानपुरुषान्तरम्=प्रधान-पुरुषयोर्मध्ये भेदम् । विशिनष्टि=करोति ।

हिन्दी—जिस कारण से बुद्धि सुख-दुःख एवं उनके साधन सम्बन्धी समस्त विषयो का उपभोग का संपादन पुरुष के लिए करती रहती है, और आखिर में फिर वही बुद्धि पुरुष को सासारिक बन्धन से छुड़ाने के लिये प्रकृति और पुरुष में भेदज्ञान को उत्पन्न कर देती है ॥ ३७ ॥

प्रश्न—पहिले ३४ वीं कारिका में जो विशेष और अविशेष दो प्रकार के विषय बतलाते हैं—वे कौन हैं ?

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चम्यः ।

एते स्मृता विशेषा. शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

१ पुरुषसामिप्रियात्तच्छायापत्त्या प्राप्तचेतनेव बुद्धिस्तद्विषय सुखदुःखानुभवात्मक भोग पुरुषस्य सम्पादयतीति भावः ।

२ अन्तर विशेष विशिनष्टि करोति, यथोदनपाक पचतीति, करण च प्रतिपादनम्, विद्यमानमेवान्तरमविदेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति न तु करोतीत्यर्थं, एतेन प्रधानपुरुषयोरन्तरस्थ कृतकत्वादन्तित्व मोक्षस्य स्यादिति परास्तम् । सूक्ष्म दुर्लभ तदन्तरमिति वाचस्पतिमिश्रा ।

३ प्राप्ते ।

गो०—पूर्वमुक्तं विशेषाविशेषविषयाणि, तत् के विषयास्तान् दर्शयति—
यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं
रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्, एतान्यविशेषा उच्यन्ते ३देवानामेते सुखलक्षणा विषया
दुःखमोहरहिताः, तेभ्यः पञ्चभ्यन्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजो-
वाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते एते स्मृता विशेषाः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी,
रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम्,
इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतान्येते विशेषा मानुषाणां विषयाः शान्ताः—
सुखलक्षणाः, घोराः—दुःखलक्षणाः, मूढाः—मोहजनकाः ४यथाऽऽकाशं कस्य-
चिदनवकाशादन्तर्गृहादेनिर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवात-
वर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पण्यानं गच्छती वनमार्गाद् घ्नस्य
दिङ्मोहान्मूढं भवति । एवं वायुर्धर्मार्त्तस्य शान्तो भवति शीतार्त्तस्य घोरो
धूलिशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ इति । एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तन्मात्राणि, अविशेषाः, तेभ्यः, पञ्चभ्यः, पञ्च भूतानि, (भवन्ति)
एते विशेषाः, स्मृताः, शान्ताः, घोराश्च, मूढाश्च ॥ ३८ ॥

व्याख्या—तन्मात्राणि । अविशेषा = सूक्ष्माः । तेभ्यः = पञ्चतन्मात्रेभ्यः ।
पञ्चभ्यः । पञ्च भूतानि = पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपाणि महाभूतानि ।
(भवन्ति) । एते = पञ्चमहाभूतानि । विशेषाः = स्थूलाः । स्मृताः = कथिताः ।
(एते च पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतपदार्थाः) शान्ताः = सत्त्वोद्वेकात् शान्तिदायकाः,
सुखदा इत्यर्थः । घोराः = रजोगुणोद्वेकात् दुःखदाः । च । मूढाः = तमोबाहुल्यात्
मोहजनकाः ।

हिन्दी—तन्मात्राएँ सूक्ष्म कही गयी हैं और उन पञ्चतन्मात्राओं से पृथ्वी-
जल-तेज-वायु-आकाश ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ।

इन पञ्चमहाभूतों को विशेष (स्थूल) कहा है । और ये सत्त्वगुण के
प्रधान होने पर सुख शान्ति के प्रदान करने वाले होते हैं, रजोगुण की प्रधानता

१. विशेषाविशेषरूपा ज्ञानेन्द्रियाणां विषया इत्यर्थः ।

२. शान्तघोरमूढत्वाद्युपभोगयोग्यत्वाभावादत् एव च मात्रशब्देनैतेषां
सूक्ष्मत्वं सूचितम् । ते केषां विनया इत्यत आह—देवानामिति ।

३. उपभोगयोग्यशान्तादिमत्त्वं विशेषत्वं स्थूलमहाभूतज्वेवाज्जस्ते विशेषपद-
वाच्या इत्यर्थः । एते केषां विषया इत्याह—मानुषाणामिति ।

४. प्रत्येकं शान्तादिमत्त्वलक्षणस्य लक्ष्ये सङ्गतिं दर्शयति—यथेति ।

से दुस-दारिद्र्य के देने वाले होते हैं और तमोगुण के प्राधान्य से मो० तथा अज्ञान को देने वाले होने हैं ॥ ३८ ॥

साह्य ने विशेष को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है अर्थात् साह्यमत् में विशेष तीन प्रकार के होते हैं इसी बात को बतसाते हैं—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

गौ०—अप्याख्ये विशेषा—^१ सूक्ष्मास्तन्मात्राणि यत्सगृहीत तन्मात्रक सूक्ष्म-
शरीर महदादिलिङ्ग सदा निष्ठानि सञ्चरन्ति च ते सूक्ष्मा, तथा^२ मातापितृजा
स्थूलशरीरोपचायका—अतुकाले मातापितृमयो मे शोणितशुक्रमिथीभावेनो
दरात् सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति, तत् सूक्ष्मशरीर पुनर्मातुराशितपीतना
विधरसेन तामिनिबन्धेनाप्यायते, तथाप्यारब्ध शरीर सूक्ष्ममातापितृजैश्च सह
महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकटघुर शिरःप्रभृति पाट्कोशिक^३ पाञ्च-

१ विविधविशेषात्तत्र प्रथमं दर्शयति—सूक्ष्मा इत्यनेन । ससारनिदानभूता
लिङ्गशरीराद्या सूक्ष्मतन्मात्राचारव्यतया सूक्ष्मा येऽभिधीयन्ते साह्यै स प्रथमो
विशेष इत्यर्थः ।

२ द्वितीय तृतीय च विशेषमेकवाक्येनाह—तथेति । मातापितृजशरीर-
रूपद्वितीयविशेषस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वकम् दर्शयति—अतुकाल इत्यादिना ।
आप्यायत इति । सूक्ष्मशरीरोपचायकत्वद्वारा मातापितृजस्य स्थूलशरीरोपचायक-
त्वमिति भावः ।

३ यद्यपि सूक्ष्ममातापितृजयो परिणाम एव स्थूलशरीरन्तयापि त्रिविध-
विशेषारब्धन्तदित्याह—तथापीति ।

४ पाट्कोशिकमिति । एवमारब्ध स्थूलशरीर पृष्ठोदरादियदङ्गम् इत्यर्थः ।
'तच्छ पदङ्गं शाखाश्चनस्रो मध्य पञ्चमं पट्टं शिर इति सुश्रुतोक्ते, एव
च लोमलोहित मासस्नाम्बस्त्रिमज्जाना पाट्कोशल वाचस्पत्युक्तमसङ्गतमिव
प्रतिभाति, एतेषां शरीरग्लक्षणवर्गे पाट्कात् तत्रापि स्थिरपितृजलोम्ना मातृज-
त्वोत्तिर्भज्जायाश्च मृदुमातृजमध्यगणिताया पितृजत्वोक्तिर्मिश्रोक्ता विरुद्धेव
'गमस्य केशश्मश्रुनोमास्थिनक्षदतमिरास्नायुधमनी रेतःप्रभृतीनि स्थिराणि
पितृजानि, मासशोणितमेदोमज्जाहृन्नामियदृत्स्नीहान्नशुदप्रभृतीनि मृदूनि

भौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जसम्भृतम् आकाशोऽवकाशदानाद्वायुर्वहनात् तेजः पाकादापः संग्रहात् पृथिवी धारणात् समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद् वह्नि-
भवति । एवमेते त्रिविधाः विशेषाः स्युः । अत्राह—‘के नित्याः के वा
अनित्याः ? सूक्ष्मास्तेषां नियताः नियता नित्याः सूक्ष्मास्तन्मांससंज्ञकास्तेषां
मध्ये के वा तैरावयव शरीरमध्यमवशात् पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु
मंसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न यावज्ज्ञान-
मुत्पद्यते, उत्पन्ने ज्ञाने विहाञ्छरीरं त्यक्त्वा मोक्षं गच्छति, तस्मादेते विशेषाः
सूक्ष्मा नित्या इति । मातापितृजा निवर्तन्ते, सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राण-
स्यागबेलाया मातापितृजाः निवर्तन्ते, मरणकाले मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्त्य
भूम्यादिषु प्रलीपते यथातत्त्वम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सूक्ष्माः, मातापितृजाः, प्रभूतैः, सह, विशेषाः, त्रिधा, स्युः,
तेषाम्, सूक्ष्माः, नियताः, मातापितृजाः, निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

व्याख्या—सूक्ष्माः=सूक्ष्मशरीराणि । मातापितृजाः=स्थूलदेहाः, ये माता-
पितृभ्यां जायन्ते । प्रभूतैः=पर्वत-वृक्षादि-महाभूतपदार्थैः । सह=सह मिलित्वा ।
विशेषाः=स्थूलाः । त्रिधा=त्रिविधाः । स्युः=भवन्ति । तेषाम्=त्रिविध-
विशेषाणां मध्ये । सूक्ष्माः=सूक्ष्मशरीराणि । नियताः=नित्याः । मातापितृजाः=
स्थूलदेहाः । निवर्तन्ते=नश्यन्ति ॥ ३९ ॥

हिन्दी—सूक्ष्मशरीर-स्थूलशरीर-पर्वत वृक्षादिरूपमहाभूत ये तीन विशेष
शब्दाभिधेय हैं । उनमें सूक्ष्म-प्रलयकालपर्यन्तस्थायी होने के नाते नियत (नित्य)
है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) प्रलयकाल पर्यन्त ही स्थायी रह पाता
है बाद में भट्ट हो जाता है अतः प्रलयकाल पर्यन्त स्थायित्वरूप नित्यत्व ही
सूक्ष्मशरीर में माना गया है । और माता-पिता के रजवीर्य से उत्पन्न हुआ

मातृजानीति शरीरकस्थानोक्तेः, एवं चैतन्मते क्षीणितशुक्रयोर्मातापितृजत्वं
वाचस्पतिमते मांसादीनामित्यवधेयम् ।

१. पञ्चभौतिकत्वमेव स्फुटयति—आकाश इति । शारीरिकप्राणादिसमस्त-
व्यापारममर्थसकलावयवसम्प्रतिप्रयोजकत्वं पञ्चभूतानां स्थूलशरीरे प्रदर्शयति—
समस्तेति ।

२. कर्मवशादिनि पाठान्तरम् ।

३. पायिवभागः पृथिव्यां जलभागो जल इत्यादिरीत्येत्यर्थः ।

यह स्थूल शरीर तथा पर्वत वृक्षादि रूप प्रभूत नामक विशेष उत्पन्न एव नष्ट होने रहते हैं ॥ ३९ ॥

सूक्ष्म शरीर का विवेचन—

पूर्वोत्पन्नमसवत नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।

संसरति निरुपभोग भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

गी०—‘सूक्ष्म च कथं संसरति?’^१ तत्राह—यदा लोका अनुत्पन्ना प्रधानादि-सर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति । किञ्चाग्यत्—असक्त न मयुक्त तिर्यग्योनि-देवमानुषस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्त पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसर संसरति गच्छति । निव्रतम्, यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति । तच्च महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम् । महानादौ यस्य तमहदादि—बुद्धिरहङ्कारो मन इति, पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मपर्यन्तं तन्मात्रपर्यन्तं संसरति शूलग्रहपिषोक्तिकावत् घ्रीनरि लोकान्^२ निरुपभोग भोगरहितं तत् सूक्ष्मशरीर मातापितृजेन बाह्येनापचयेन त्रियाघर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः^३ । “भावैरधिवासितं पुरस्ताद्भावाद् घर्मादीन् वक्ष्यामि रधिवासितमुपरजितम् । लिङ्गमिति—प्रलयकाले महदादि-सूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं^४ प्रधाने लीयते, असंसारणयुक्तं यत् आसर्गकालमत्र वर्तते,^५ प्रवृत्तिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादित्रियास्वसमर्थमिति । पुनः सर्गकाले संसरति तस्मात्सिङ्गं सूक्ष्मम् ॥ ४० ॥

१ सूक्ष्मशरीर विभजने इति मिथ्या । लिङ्गशरीरधर्मानाहेति नारायणी ।

२ प्रत्यात्मभिन्नमिति चन्द्रिका । आ चादिसर्गादा महाप्रलयादवतिष्ठत इति तत्त्वकीमुदी ।

३ महदहङ्कारमनोदशे द्वयतन्मात्रसमुदायरूपं सूक्ष्म शरीरमित्यग्ये ।

४ स्थूलदेहं विना सूक्ष्मस्य भोगानुभवंत्वादिति भावः ।

५ ननु घर्माधर्मयोः सूक्ष्मशरीरेऽसम्भवात्कथं तन्निमित्तं सूक्ष्मस्य संसरणमस्त्य आह—भावरिति । वक्ष्यमाणधर्माधिर्मादिभावानां बुद्धौ वर्तमानत्वात्तदवित्तस्य सूक्ष्मशरीरस्यापि संसारः सम्भवतीति न दोषः । वक्ष्यामि—त्रिचत्वारिंशत्कारि-कायाम् ।

६ बुद्धोन्द्रियकर्मेन्द्रियसहितम् ।

७ प्रधाने । प्रलये कृतो न संसरति सूक्ष्मशरीरमित्यस्त्य आह प्रवृत्तीति ।

अन्वयः—लिङ्गम्, पूर्वोत्पन्नम्, असक्तम्, नियतम्. महादिभूक्ष्मपर्यन्तम्, भावैरधिवासितम्, (सत्) निरुपभोगम्, संसरति ॥ ४० ॥

व्याख्या—लिङ्गम्=नृक्ष्मशरीरम् । पूर्वोत्पन्नम्=मृष्टारम्भकाले प्रधाना-
वुत्पन्नम् । असक्तम्=अव्याहतगतिकम् अर्थात् परमाष्वादी शिलादी च प्रवेशन-
शक्तिसम्पन्नम् । नियतम्=नित्यम् अर्थात् मृष्टिमारम्भ महाप्रलयपर्यन्तं स्यात् ।
महादिभूक्ष्मपर्यन्तम्=महदहङ्कार-एकादशेन्द्रिय पञ्चतन्माश्रयपर्यन्त-अष्टादशपदा-
र्थैर्दिनितम् । भावैरधिवासितम्=भवति जगत् एभ्यस्ते भावाः, तैर्भावैः=
धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यैर्निश्वर्यैर्ऋतैः, अधिवासितम्=युक्तम् (सत्) ।
निरुपभोगम्=सुखदुःखादि-अन्यतरसाक्षात्काररूपभोगरहितम् । संसरति=पूर्व-
पूर्वस्थूलशरीराणि परित्यज्य नवनवस्थूलशरीरेषु भोगार्थं गच्छति ।

हिन्दी—यह लिंग शरीर मन अहङ्कार पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पाँच कर्मेन्द्रिय तथा
पञ्चतन्मात्राओं के आधार पर प्रकृति के द्वारा मृष्टि के आरम्भकाल में सर्वप्रथम
उत्पन्न होता है और यह अव्याहत-मतिशील तथा नित्य है अर्थात् यह परमाणु
आदि कठिन पदार्थों के अन्दर भी दड़ी आसानी से प्रवेश कर जाता है, और
सूक्ष्म से लेकर प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी है यही इसका नित्यत्व है तथा धर्म-
अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-वैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य इन आठ प्रकार के भावों से
युक्त होकर, स्थूल शरीर के बिना किसी भी विषय का उपभोग करने में सर्वथा
असमर्थ होता हुआ पूर्व पूर्व स्थूल शरीरों को छोड़ कर नये नये अन्य स्थूल
शरीरों के अन्दर प्रवेश करता रहता है ॥ ४० ॥

प्रश्न—अहङ्कार तथा एकादश इन्द्रियों के सहित बुद्धि को ही स्थूल
शरीरों में गमन-आगमन करने वाली मान लिया जाय क्या आवश्यकता है सूक्ष्म
शरीर की ?

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाष्वादिभ्यो विना यथा छाया ।

तद्वाङ्मना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

गौ०—'किप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरती'त्येवं चोदिते सत्याह—
'चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाष्वादिभ्यः कीलकादिभ्यो विना
छाया न तिष्ठति, तैर्विना न भवति, आदिग्रहणाद् यथा जैत्यं विना नापो भवन्ति

१. ननु तर्हि 'अहंकारेन्द्रियबुद्धित एव भोगोऽस्तु कृतं मूढमनाध्यामाग्निकेने-
स्पत आह—चित्रं यथेत्यन्ये ।

शैत्य वाऽद्भिर्विना, अग्नि रूप विना, वायु स्पर्श विना, आकाशमवकाश विना, तद्भूतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, विनाऽविशेषैर्विशेषैस्तन्मात्रविना न तिष्ठति ।

अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते, शरीर पञ्चभूतमयम्, वैशेषिणा शरीरेण विना क्व लिङ्गस्थान चेति क्व एकदेहमुज्झति तदेवान्यमाश्रयति, निराश्रयमाश्रयरहितम्, लिङ्ग त्रयोदशविध करणमित्यर्थ ॥ ४१ ॥

अन्वय — यथा, चित्रम्, आश्रयम्, ऋते न तिष्ठति, यथा, छाया, स्थाणादिभ्यः, विना, न तिष्ठति, तद्वत्, लिङ्गम्, विशेषैः, विना, निराश्रयम्, न, तिष्ठति ॥

व्याख्या—यथा=येन प्रकारेण । चित्रम्=मनुष्यादीनां चित्रम् (फोटो) । आश्रयम्=मनुष्यादिरूपाश्रयम् । ऋते=विना । न तिष्ठति । यथा छाया=वृक्षादीनां छाया । स्थाणु आदिभ्यः=वृक्षादिभ्यः । विना । न तिष्ठति=न स्थातुमर्हति । तद्वत्=तथैव । लिङ्गम्=बुद्ध्यादित्रयोदशविध करणरूपम्, लिङ्गम्, (यच्च पुरुषस्थानुमापकम्) । विशेषैः=सूक्ष्मशरीरम् । विना । निराश्रयम्=निराधारम् । न तिष्ठति ॥ ४१ ॥

हिन्दी—जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र का, वृक्ष आदिकों के बिना छाया का रहना सर्वथा असंभव है, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरों के बिना बुद्धि आदि त्रयोदशविधकरणों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय-मन बुद्धि तथा अहंकार) का निराश्रय होकर रहना नितान्त अशक्य है, क्योंकि इन त्रयोदशों का आश्रय एकमात्र सूक्ष्मशरीर ही है अतः सूक्ष्मशरीर का स्वीकार नितान्त आवश्यक है ।

सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व (सत्ता) को सिद्ध कर अब हम उसके सस्मरण (गमनागमन) तथा सस्मरण के हेतु को बतलाते हैं—

१ अत्र जन्ममरणान्तराले बुद्ध्यादयः वर्तमानशरीराधिष्ठाता वर्तमानपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्ध्यादिरवात् दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवदित्यनुमानेन मरणा नन्तर पुनः स्थूलशरीरपरिग्रहयन्तः बुद्ध्यादीनामाधारभूत वर्तमान किञ्चिच्छरीरवत्त्वम्, दृश्यमानशरीरं च तदा बाधितमिति सूक्ष्मशरीरमवश्यं तन्मात्राख्यमद्वी कर्तव्यमिति मिथ्या ।

२ अयेति । पञ्चभूतमय स्थूलशरीर विशेषभूतपदवाच्यमित्यर्थ, वैशेषिणा शरीरेण सूक्ष्मेण विना, क्व लिङ्गस्थाने चेतीत्यस्य विवरणं क्वैकस्थूलदेह इत्यत्र तदेव त्रयोदशविध करणमन्यस्थूलशरीरं स्वीकरोति वा सूक्ष्ममाश्रय विनेत्यभिप्रायः ।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।

प्रकृतेविभुत्वयोगाभटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

गो०—'किमर्थम् ?' नदुक्ते' पुरुषार्थः कर्तव्य इति प्रधानं वक्तव्ये
त च द्विविधः—सञ्ज्ञाद्युपलब्धिलक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च । सञ्ज्ञाद्यु-
पलब्धिविध्वंसादिषु लोकेषु गन्धादिभोगावाप्तिः । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिमार्गः
इति । तस्मादुक्तं—'पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तते' इति । निमित्त-
नैमित्तिकप्रसङ्गेन, निमित्तं घर्मादि, नैमित्तिकमूर्ध्वगमनादि, पुरस्तादेव
वक्ष्यामः । प्रसङ्गेन प्रसक्त्या प्रकृतेः प्रधानस्य विभुत्वयोगात्,
यथा राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद् पटविच्छति तत् तत् करोतीति, तथा प्रकृतेः
सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते पृथक् पृथग्देहधारणे
लिङ्गस्य व्यवस्थां करोति । लिङ्गं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरपचितं
शरीरं त्रयोदशविघ्नकरजोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते । कथम् ? नट-
वत् । यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति पुनर्नृपः, पुनर्विह-
पकः, एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य हस्ती स्त्री पुमान्
भवति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पुरुषार्थहेतुकम्, इदम्, लिङ्गम्, निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन,
प्रकृतेः, विभुत्वयोगात्, नटवत्, व्यवतिष्ठते ॥ ४२ ॥

१. त्रयोदशविघ्नं करणं सूक्ष्मशरीरेण सह किमर्थं किमप्रयोजनं संहरतीत्येत-
दुच्यते इत्यर्थः ।

२. तथा च भोगापवर्गात्मकः पुरुषार्थो हेतुः प्रयोजको यस्येति पुरुषार्थ-
हेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तते इत्यनेन तस्य नंतरं पुरुषार्थ एवोद्देश्यमिति
लूचितम् ।

३. घर्मण गमनमूर्ध्वमिति चतुर्ध्वत्वारिशात्कारिकायाम् ।

४. सहयोगेन सहचारमाख्येनेति यावत्, यदि घर्मादिना निमित्तेन नैमित्तिकेन
तत्तत्सूपलशरीरेण वा सहयोगः स्यात् न व्यवतिष्ठेत लिङ्गशरीरं किन्तु
विलीयेतेति भावः ।

५. प्रधानविभुत्वात्मावर्त्यवजान्निमित्तनैमित्तिकसहचारेण लिङ्गशरीरं पृथक्
पृथक्पूज्यशरीरधारः करोतीति व्यवस्येति भावः । इदमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति-
कथमित्यादिना ।

८ मां

व्याख्या—पुरुषार्थहेतुकम्—पुरुषार्थ = पुरुषस्य (आत्मन), अर्थ=प्रयो-
जनम् भोगापवगरूपम्, स (पुरुषार्थ) एव हेतु = प्रयोजक, यस्य तत् पुरुषार्थ
हेतुकम् = सूक्ष्मशरीरस्य गमनागमने पुरुषार्थ एव उद्देश्यम् इति भावः । इ-
तिङ्ग बुद्धि आदिभिर्विनिमित्तं सूक्ष्म शरीरम् । निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन—
निमित्ता = अनेकविधशरीरकारणीभूता धर्माधर्माद्यष्टभावपदार्था, नैमित्तिका=
स्थूलशरीरादयः, तेषां प्रसङ्गेन = धर्माधर्मादिकरणकनानाविधस्थूलशरीरधारणा-
त्मकव्यापारणः । प्रकृते = प्रधानस्य । विभ्रुत्वयोगात् = व्यापकत्वात् । नटवत्=
नट इव । व्यदतिष्ठते = ससरति, मोक्षकालपर्यन्तम् अथवा प्रलयकालपर्यन्तं स-
रणं करोत्येव ।

हिन्दी—पुरुष (जीवात्मा) के भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थ के कारण
यह सूक्ष्म शरीर घट्म अधर्म ज्ञान अज्ञान आदि निमित्तकारणीभूत अष्टविध भाव
पदार्थों के आधार पर अनेकविधयोनियो में भ्रमण करता हुआ कभी देवशरीर,
कभी मनुष्यशरीर, कभी पशु पक्षी, कभी कीट-पतंग, कभी वृक्ष-सता आदि
नैमित्तिक स्थूलशरीरों के सम्बन्ध में अपने आवागमन रूपी व्यवहार को उसी
प्रकार से सम्पन्न करता रहता है जैसे कि एक नट नाटक के अन्दर कभी राम,
कभी परशुराम, कभी कृष्ण, कभी हर्षिश्चन्द्र आदि के स्वरूप को धारण कर
उनके चरित्रों का प्रदर्शन करता है ।

प्रश्न—सूक्ष्मशरीर को नानाविध स्थूल शरीरों के अन्दर ससरण की शक्ति
कैसे प्राप्त हुई ?

उत्तर—“प्रकृतेर्विभ्रुत्वयोगात्” अर्थात् प्रकृति के व्यापक होने के कारण,
अभिप्राय यह है कि माक्ष्य ने कार्य और कारण का अभेद होने के नाते सूक्ष्म-
शरीरात्मक कार्य तथा प्रकृतिरूप कारण का तादात्म्य माना है, अतएव प्रकृति
के विभ्रु होने के नाते सर्वत्र स्थूल शरीरों में सूक्ष्म शरीर का ससरण सम्पन्न हो
जाता है । क्योंकि बिना कारण के कार्य की शक्ति कैसे हो सकती है और इसी
बल से कार्य और कारण के सामानाधिकरण्या का नियम भी बन जाता है ।

निमित्त (कारण अर्थात् धर्माधर्म) नैमित्तिक (कार्य अर्थात् स्थूल शरीर)
के साथ सम्बन्धित होने के नाते यह सूक्ष्म शरीर बराबर ससरण करता रहता
है यह वह चुने है—अब निमित्त और नैमित्तिक का कथन करते हैं—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

गौ०—भावेरधिवासितं लिङ्गं संसरतीत्युक्तम्, उत् के भावा इत्याह—
 भावान्निविद्याश्चिन्त्यन्ते—सांसिद्धिकाः प्राकृताः वैकृताश्च । तत्र सांसिद्धिका
 यथा—भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मो
 ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति । प्राकृताः कथ्यन्ते—ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-
 सनन्दन-सनातन-सनत्कुमाराः बभूवुः, तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडश-
 वर्षाणांभेदे भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः^१ । तथा वैकृता
 यथा आचार्यभूति निमित्तं कृत्वाऽऽत्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानाद्वैराग्यं वैराग्या-
 द्धर्मः धर्मादेिश्वर्यमिति, आचार्यभूतिरपि विकृतिरिति, तस्माद्वैकृता^२ एते भावा
 उच्यन्ते, वैरविवासितं लिङ्गं संसरति । एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः, तामसा
 विपरीताः, सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तमित्यत्र व्याख्याताः ।
 एवमष्टौ धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति ।
 अष्टौ भावाः क्व वर्तन्ते ? दृष्टाः करणाश्रयिणः । बुद्धिः करणं^३ तदाश्रयिणः,
 एतदुक्तम्—‘अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानम्’ इति । कार्यं देहस्तदाश्रयाः कललाद्या
 ये मातृजा इत्युक्ताः, शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः^४ कललाद्या बुद्बुदमांस-
 पेक्षीप्रभृतयः, तथा कौमार्यौवनस्यविरत्तादयो^५ भावाः अन्नपानरसनिमित्ता
 निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ॥४३॥

१. अन्ये तु भावा धर्माद्याः ये सांसिद्धिकाः स्वाभाविकास्त एव प्राकृतिकाः
 सहोत्पन्नाः, यावद्वस्तुस्थायिनो वा यथा महत्तत्त्वात्हंकारादय इति । एतन्मते तु
 सहोत्पन्नाः सांसिद्धिकाः, उत्पन्नबुद्धितत्त्वशरीराणां सनकादीनां प्रकृत्योत्पन्नाः
 प्राकृता इति विज्ञेयः ।

२. असांसिद्धिका उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः यथा प्राचेतसादीनां कदाचिद्-
 बृत्तयो वा वैकृता इति मिश्रादयः । एतन्मतेऽपि गुरूपदेहादिनोत्पन्ना भावा
 ज्ञानादयो वैकृता इति न कश्चिद्विशेषः किन्तु त्रैविध्यद्वैविध्य एव पूर्वप्रदक्षितो
 विशेषो बोध्यः ।

३. त्रयोविंशकारिकायाम् ।

४. करणस्येन्द्रियादेर्भावाधिकरणत्वायोगात् करणपदस्यार्यमाह = बुद्धिः
 करणमिति । एतदुक्तमिति । बुद्धिरूपकरणमुक्तमित्यर्थः ।

५. स्थूलशरीरवृद्धिहेतुका इत्यर्थः । एता क्रमस्यस्य शरीरावस्थाः,
 बहिर्निर्गतस्य ता आह—सथेति ।

६. उक्तावस्थानां कार्याश्रयत्वे हेतुमाहात्म्यानेति । कार्याश्रयिण इत्यस्यार्यमा-
 हात्मादीति ।

अन्वय - गवा, सांसिद्धिका, प्राकृतिका, वैकृताश्च, (भवन्ति), (तत्र) धर्माद्या, करणाश्रयिण, दृष्टा, च, कललाद्या कार्याश्रयिण, दृष्टा ॥ ४३ ॥

व्याख्या—भावा = धर्माधर्मादि अष्टविधभावपदार्था (द्विविधा भवन्ति) सांसिद्धिका = स्वाभाविका । (अत एव ते प्राकृतिका अप्युच्यन्ते) प्राकृतिका — प्रकृति = स्वभाव, स्वभावसिद्धा इत्यर्थे । यथा सर्गादौ आदिविद्वान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सम्पन्नो प्रादुर्बभूव इति श्रूयते । वैकृताश्च (भावा) = असांसिद्धिका, नैमित्तिका इत्यर्थे । अर्थात् ये ईश्वराश्रयणरूप-उपायानुष्ठानात्मकनिमित्तेन उत्पन्ना इति भावः । यथा वाल्मीकिप्रभृतयो महर्षय ईश्वराश्रयणं कृत्वा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणामुपार्जनं कृतवन्तः । एवमधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्याणां चत्वारि राक्षसप्रभृतीनां सांसिद्धिकानि, राक्षसप्रभृतीनां ससर्गेण समुत्पन्नानि वैकृतानि । एते धर्माधर्मादि अष्टभावपदार्था कस्याश्रयिण इत्यत आह—“दृष्टा करणाश्रयिण” (तत्र) धर्माद्या—धर्मादि-अष्टविधभावपदार्था । करणाश्रयिण—करणम् = बुद्धितत्त्वम्, तदाश्रयिण इत्यर्थे । दृष्टा = निश्चिता । कललाद्या = कलसबुद्बुदमासपेरीकरण-करणडाचङ्क-अत्यङ्गमूहात्मकाश्च भावा-न्तरभूता विषया । कार्याश्रयिण = कार्यम्—स्थूलसरीरम्, तदाश्रयिण । दृष्टा = निश्चिता साक्षात्कार्यैरिति शेषः ।

अयमभिप्रायः धर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्था बुद्धितत्त्वरूपं यत् अन्तःकरणं तदाश्रयिणं सन्ति, एवम् एतेभ्योऽष्टविधभावपदार्थेभ्यश्च अतिरिक्तास्तेषां परिणामभूता कललादयः पूर्वोक्ता पदार्था स्थूलसरीराश्रयिणं सन्तीति भावः ।

हिन्दी—धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये अष्टविध भावपदार्थ दो प्रकार के माने गये हैं प्राकृतिक और वैकृतिक । प्राकृतिक वे भावपदार्थ हैं जो प्राणी के लिये सांसिद्धिक (स्वाभाविक) माने गये हैं । अर्थात् जो जन्मते ही उत्पन्न हो जाते हैं । जैसे—महामुनि कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चतुर्विध भावपदार्थों से संपन्न होकर हो पैदा हुए थे । और वैकृतिक वे हैं जो ईश्वर की तपश्रयां आदि के आधार पर होवें । जैसे वाल्मीकि मुनि ने रामनाम की रटन्त के आधार पर प्राप्त किया था । इसी प्रकार अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य ये राक्षस अथवा राक्षस प्रकृति वालों को तो प्राकृतिक माने गये हैं । और उनका ससर्ग करनेवालों (चोर-डकैत आदि) के वैकृतिक (नैमित्तिक) कहे गये हैं । और ये अष्टविध भावपदार्थ बुद्धितत्त्वरूपकरण के

आश्रित हैं, तथा इनके परिणामभूत कललवृद्धिबुद्धि आदि एवं बाल्य-यौवन-वृद्धि आदि अवस्था-विशेष स्थूलशरीरात्मक कार्य के आश्रित है ॥ ४३ ॥

ये आठ भावपदार्थ किस-किस कार्य का संपादन करते हैं इस बात को बतलाते हैं—

धर्मेण गमनसूक्ष्मं गमनसधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

गी०—निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेनेति^१ यदुक्तमवोच्यते-धर्मेण गमनसूक्ष्मम्,^२ धर्मं निमित्तं कृत्वोद्ध्वंमुपनयति ऊर्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते तद्यथा—आह्वं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याज्ञं राक्षसं पैशाचमिति तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति पशुमृगपक्षिसरीसृपस्यावरान्तेष्वधर्मो^३ निमित्तम् । किं च ज्ञानेन चापवर्गः, अपवर्गश्च^४ पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम्, तेन निमित्तेनापवर्गो मोक्षः ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते परमात्मा उच्यते । विपर्ययादिष्यते बन्धः अज्ञानं निमित्तम्, स, चैव नैमित्तिकः प्राकृतो वैकारिको दक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति । पुरस्ताद्,^५ यद्विदमुक्तं—'प्राकृतेन च बन्धनं तथा वैकारिकेण च । दक्षिणेन तृतीयेन बन्धो नान्येन मुच्यते' ॥ ४४ ॥

१. ४२ कारिकायाम् ।

२. धर्मेणेति । अभ्युदयहेतुना धर्मस्त्वभावेनोर्ध्वं स्वर्गलोकादौ गमनं भवतीत्यर्थः । एतदेवाह—धर्ममिति । उपनयति प्रापयति सूक्ष्मशरीरमात्मानमिति भावः । अथवा उपयाति इति सरलं पाठान्तरमत्र पुस्तकान्तरे द्रष्टव्यम् ।

३. अधस्तादित्यस्यायमाह—पशुमृगेति । पाताललोको पश्चादिषु बाधधर्मेण गतिर्भवतीत्यर्थः ।

४. अपवर्गश्चेति । पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वज्ञानेन सत्त्वगुरुयान्यतात्प्राप्तिद्वारा मोक्षो भवतीत्यर्थः । ततो मोक्षात् । ज्ञानेनात्मसाक्षात्कारेण मोक्ष इत्यन्ये ।

५. अज्ञाननिमित्तोद्भवः स चैव बन्धः प्राकृतादिभेदेन त्रिविध इत्यग्रे वक्ष्यतीत्यर्थः । अत्र प्राचीनानां सम्मतिमाह—प्राकृतेनेति । आत्मबुद्ध्या प्रकृत्युपासननिबन्धनः प्राकृतः, आत्मबुद्धयेन्द्रियोपासननिबन्धनश्च वैकारिकः पुरुषमज्ञानतः कामनया इष्टापूर्तकर्मनिष्ठाननिबन्धनस्तु दक्षिणिक इत्येषां स्वरूपमन्यत्र द्रष्टव्यम् ।

अवय — धर्मेण, कृष्णं, गमनम्, भवति, अधर्मेण, अधस्तात्, गमनम्, (भवति), शानेन, च, अपवर्गं, (भवति) विपर्ययात् बन्ध, इत्यते ॥४४॥

व्याख्या—धर्मेण । कृष्णम् = उपरि विद्यमानेषु स्वर्गादिलोकेषु । गमनम् । भवति । अधर्मेण । अधस्तात् = बधोविद्यमानेषु पातालादिलोकेषु । गमनम् । (भवति) । शानेन = पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानेन । च । अपवर्गं = मोक्ष । (भवति) । विपर्ययात् = अज्ञानात् । बन्ध = सासारिकविषयवासनाजन्यबन्धनम् । इत्यते = जीवस्मेति शेष ॥ ४४ ॥

हिन्दी—धर्मरूप भावपदार्थ से जीव का ऊपर के स्वर्ग आदि लोको में गमन होता है । और अधर्म करने से यह जीव नीचे के लोको में भ्रमण करता रहता है । ज्ञान से मोक्ष अर्थात् सासारिक बन्धन से छुटकारा प्राप्त होता है, और ज्ञान के विपर्ययभूत अज्ञान से सासारिक बन्धन की प्राप्ति जीव को होती रहता है ॥ ४४ ॥

यैराग्यात् प्रकृतिलयः ससारो भवति राजसाद्रागात् ।

ऐश्वर्यादिविधातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥४५॥

श्री०—तथाऽन्यदपि^१ निमित्तम्—यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति न तत्त्वज्ञान तस्मादज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयो मृतोऽंशस्तु प्रकृतिषु प्रधानबुद्धपहङ्कारतन्मात्रेषु लीयते न मोक्ष^२ ततो भूयोऽपि ससरति^३ । तथा योऽयं राजमो राग—यजामि दक्षिणा ददामि येनामुक्तिम् लोकेऽत्र यद्विष्य मानुष सुखमनुभवाम्येतस्माद्राजसाद्रागात् ससारो भवति । यथा ऐश्वर्यादिविधातः, एतद्वैश्वर्यमहगुणम् अणिमादिमुक्त^४ तस्माद्वैश्वर्यनिमित्तादिविधातो नैमित्तिको

१ निमित्तनैमित्तिकेत्यत्रा—यदपि धर्मादिवत्तदुभय प्रदर्शयन्नाह—तमेति ।

२ तमेव विदित्वाऽनिमृत्युमेति नान्य पथा विद्यतेऽप्यनायेति श्रुत्वा पुण्यसंस्पर्श मोक्षवर्णनादन्यस्य तदभावकथनाज्ज्ञानरहितस्य निरक्तस्यापि न मोक्ष इत्याशयः ।

३ दृष्टानुभविक्विषयेष्वलबुद्धिरूपाद्वैराग्यान्महदादिप्रकृतिपदवाच्येत्वात्मबुद्धपोषास्यमानेषु समो भवति ततश्च कालान्तरेण पुन ससरति मूढमनरीरमित्यर्थः ।

४ अणिमा-महिमा-तपिमा गरिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व वसित्वात्म-कमट विघर्षभ्रयमित्यर्थः, अस्य निमित्तस्य नैमित्तिकमाह—तस्मादिति ।

भवति ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते । किञ्चान्यत् विपर्ययात् तद्विपर्यसिः, तस्याविघातस्य विपर्ययो विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते ।

अन्वयः—वैराग्यात्, प्रकृतिलयः, भवति, राजसात्, रागात्, संसारः, (भवति), ऐश्वर्यात्, अविघातः, (भवति), विपर्ययात्, तद्विपर्यसिः (भवति) ।

व्याख्या—वैराग्यात् = सांसारिकविषयेषु अनासक्त्यैः । प्रकृतिलयः = प्रकृति-महत्तत्त्व-अहङ्कारादिषु, लयः = सूक्ष्मशरीरेण सह प्रवेशः । अर्थात् किञ्चित्काल-पर्यन्तं प्रकृतिमहत्तत्त्व-अहङ्कारादिषु प्रवेशं कृत्वा विश्रामश्च लब्ध्वा पुनः स जननमरणादिरूपव्यवस्थया सम्पन्नो भवति न तु वास्तविकं मोक्षं प्राप्नोति इति भावः । राजसात् = रजोगुणकार्यात्, रागात् = अवैराग्यात्, अर्थात् सांसारिक-विषयेषु प्रेमवशात् । (तस्य पुरुषस्य) संसारः = वारम्बारं जननमरणादिरूपः संसारः । (भवति) ऐश्वर्यात् = अणिमा-गरिमा-आदि-अष्टविधसिद्धिस्तामर्थ्यात् । अविघातः = इच्छाया गतेश्च प्रतिबन्धाभावः । स्वेच्छया सर्वत्र गमनम् अर्थात् अणिमादि-अष्टविधसिद्धि-सम्पन्नस्य पुरुषस्य सर्वत्रयोनौ सर्वेषु च लोकेषु यमनं भवितुमर्हतीत्यर्थः । विपर्ययात् = ऐश्वर्यविपर्ययात् अनैश्वर्यात् । तद्विपर्यसिः—तस्य = स्वेच्छया सर्वत्र गमनस्य, विपर्यसिः = विपरीत्यम् । अर्थात् स्वातन्त्र्यस्य सर्वथा व्याघातो भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

हिन्दी—अवशिष्ट चार भावपदार्थों में से वैराग्यसंज्ञक भावपदार्थ से प्रकृति में लय होता है, अर्थात् जो केवल वैराग्यसंपन्न पुरुष है और तत्त्व ज्ञान से विहीन है वह प्रकृति-महत्तत्त्व-अहङ्कार-वृत्तान्मात्राशी में प्रवेश कर कुल काल तक के लिये वहीं विश्राम कर फिर वह जनन-मरण-जननीजठरगमन आदि के जाल में फँस जाता है जिससे कि वह वास्तविक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है । और रजोगुण के कार्यभूत-सांसारिक प्रेमस्वरूप अवैराग्य से तो उसे हमेशा ही संसार में बना रहता है अर्थात् कभी भी वह विश्व के प्रबंध से छुटकारा प्राप्त कर विश्राम ही नहीं प्राप्त कर पाता है । ऐश्वर्य संज्ञक सप्तम भाव पदार्थ से इच्छा का और गमनागमन का कभी भी विघात नहीं हो पाता है । अर्थात् अणिमा आदि अष्टविधसिद्धिरूप ऐश्वर्य से संपन्न पुरुष अपनी इच्छा से स्वतन्त्र होकर सर्वत्र विचरण कर सकता है । उसे किसी भी योनि अथवा लोक में जाने की रुकावट नहीं होती है । और ऐश्वर्य के विपर्ययस्वरूप अनैश्वर्य से पहिले के विपरीत ही होता है अर्थात् सर्वत्र रुकावटें ही आती रहती हैं । अर्थात् पद-पद पर इच्छा का विघात एवं विघ्न-बाधाएँ ही उपस्थित होती रहती है ॥ ४५ ॥

अब प्रकृति के कार्यबुद्धि की सृष्टि का निरूपण करते हैं—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

श्री०—एव निमित्तं सह नैमित्तिक षोडशविधा व्याख्यात, स किमात्मक इत्याह—यथा एष षोडशविधो निमित्तनैमित्तिकभेदो^१ व्याख्यात एष प्रत्ययसर्गो उच्यते । प्रत्ययो^२ बुद्धिरित्युक्ता—अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानभिरयादि च प्रत्ययसगश्चतुर्धा भिद्यते—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्य भेदात् । तत्र सप्तयोऽज्ञान विषयः^३ । यथा कस्यचित् स्याणुदग्नं स्याणुरप्यपुटयो वेति सप्तयः । अशक्तियंथा तमेव स्याणु सम्यग् दृष्ट्वा मगय छेतु न शक्नोतीत्यशक्ति । एव तृतीयस्तुष्ट्याख्यो यथा तमेव^४ स्याणु ज्ञातु सशयितु वा नेच्छति निमनेनास्माकमित्येवा तुष्टि । चतुर्थं सिद्ध्याख्यो यथा आनदिनैर्द्वय स्याणुमाकृता वर्तित पश्यति साकृति वा तस्य सिद्धिर्भवति स्याणुरयमिति । एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसगस्य गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदान्तु पञ्चाशत् योऽयं सत्त्वरजस्तमोगुणाना वैषम्य विमर्दं^५ तेन तस्य प्रत्ययसगस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति ॥ ४६ ॥

१ बुद्धिधर्माधिर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्या मुमुक्षूणा हेयोपादेयान् दशयितु प्रथमं तावत्समामवाहेति मिथ्या ।

२ प्रत्ययशब्दार्थमाह—प्रत्यय इति । प्रतीयते विषया अनेनेति व्युत्पत्त्या प्रत्ययपदवाच्या बुद्धिरित्युक्ता, बुद्धेरयम आह—अध्यवसाय इति । स बोद्धो धर्मादिषोडशगणो बुद्धिसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभेदात्सक्षेपतश्चतुर्थेति भावः । एष गणो बुद्धिजन्यो बुद्धितत्त्वे प्रविष्टो न सत्त्वान्तरम्, कार्यकारणाभेदात्तस्य च पञ्चाशद्भेदा बहवस्त इति नारायणी ।

३ 'विषयमो मिथ्याज्ञानमसद्रूपप्रतिष्ठम्' इति योगसूत्रोक्तस्यासद्रूपप्रतिष्ठत्वस्य मगयेऽपि सत्त्वादनम्मिस्त्वज्ञानवत्सगयेऽपि विषयस्य इत्यर्थः । तत्र मिथ्याज्ञानस्य शुक्तिरूप्यादे प्रसिद्धत्वात्मनोदाहरणमाह—यथेति ।

४ इन्द्रियवैकल्येनेति शेषः, तथा च करणवैकल्यहेतुको बुद्धिधर्म एवाशक्तिरिति भावः ।

५ आध्यात्मिकवश्रनस इति वक्ष्यमाणतुष्टिसिद्धिभेदानां सामान्यतो लौकिको दाहरणमाह यथा तमेवेति ।

६ सत्त्वरजस्तमसा न्यूनाधिकभावरूप यद्वैषम्यं स एव विमर्दस्तेन बुद्धिसर्गस्य

अन्वयः—एषः, प्रत्ययसर्गः, (संक्षेपात्) विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभाष्यः,
(चतुर्धा भवति) च, तस्य, गुणवैषम्यविमर्दात्, पञ्चाशद्, भेदाः, (भवन्ति) ।

व्याख्या—एषः=पूर्वोक्तः धर्माधिभञ्जानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानिश्वर्य-
रूपोऽष्टविधो भावाख्यः । प्रत्ययसर्गः—प्रतीयन्ते=ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति प्रत्ययो
बुद्धिः तस्य सर्गः=बुद्धिमृष्टिरित्यर्थः । संक्षेपात् विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभाष्यः
—विपर्ययः=अज्ञानम्-मिथ्याज्ञानादिकमित्यर्थः । अशक्तिः=इन्द्रियादीनां वैकल्पम्,
यथा—चक्षुषोऽन्धत्वम्, श्रोत्रस्य बाधिर्यम्, घ्राणस्य अजिघ्रस्त्वम् (सूघने की शक्ति
का अभावः) त्वचः कुष्ठित्वम् (स्पर्शन शक्ति शून्य हो जाना), रसनस्य जडत्वम्,
(रसज्ञानशून्यत्वम्) तुष्टिः=सांसारिकप्रसन्नता, सा च मोक्षविरोधिनी ।
सिद्धिः=ज्ञानसंपादिका । (एतदाख्यप्रत्ययसर्गः चतुर्धा भवति) ननु विपर्यया-
ऽशक्तितुष्टिसिद्धिभाष्यस्य चतुर्विधसर्गस्य पञ्चाशद्भेदाः कथं जायन्ते इत्यत आह-
गुणवैषम्यविमर्दात्=सत्त्व-रजस्तमोरूपगुणानां यद् वैषम्यं=न्यूनाधिकभावः,
तज्जन्यो यो विमर्दः स्वस्वकार्यजननासामर्थ्यम्, तस्मादित्यर्थः । पञ्चाशद् । भेदः
=प्रकाराः । भवन्तीति शेषः ॥ ४६ ॥

हिन्दी—यह बुद्धि की सृष्टि यद्यपि संक्षेप से चार प्रकार की है तथापि इस
सृष्टि के गुणों के न्यूनाधिक होने के कारण परस्पर के इनके विमर्दन से पचास
भेद हो जाते हैं । और पूर्वोक्त आठ भाव पदार्थों का भी इन्हीं में अर्थात् विपर्यय-
अशक्ति-तुष्टि-सिद्धि इन्ही चारों में अन्तर्भाव भी हो जाता है । जैसे अज्ञान का
विपर्यय में, ज्ञान का सिद्धि में और धर्म-वैराग्य-ऐश्वर्य का तुष्टि में तथा अधर्म-
अवैराग्य-अनैश्वर्य का अशक्ति में अन्तर्भाव है ॥ ४६ ॥

अब बुद्धि सृष्टि के पचास भेद बतलाते हैं—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।

अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

गौ०—तथा^१ क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति रजस्तमसो उदासीने, क्वापि

पञ्चाशद्भेदा भवन्तीत्यर्थः । गुणानां वैषम्यभेदैकस्याधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा
एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतया
यथाकार्यमुन्नीयेते तदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः एकैकस्य न्यूनबलस्य
द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः, तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति मिथ्याः ।

१. तमोमोहादिपञ्चविधविपर्ययादिभेदे पूर्वोक्तमेव गुणवैषम्यविमर्दरूपं

एव क्वापि तम इति भेदा कथ्यन्ते—पञ्च विपर्ययभेदास्ते यथा—तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति, एषा^१ भेदाना नानात्व वक्ष्यते-
न^२तरमेवेति । अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति करणवैकल्यात् तानपि वक्ष्याम^३
तथा तुष्टिर्नवधा—ऊर्ध्वंलोतसि राजसानि ज्ञानानि । तथाऽष्टविधा सिद्धि,
रात्त्विकानि ज्ञानानि तर्ध्वोर्ध्वलोतसि ॥ ४७ ॥

अन्वय —विपर्ययभेदा, पञ्च, भवन्ति, करणवैकल्यात्, अशक्तिश्च, अष्टा-
विंशतिभेदा, (भवति) तुष्टि, नवधा, सिद्धिश्च, अष्टधा, (भवति) ।

व्याख्या—विपर्ययभेदा —विपर्ययस्य=मिथ्याज्ञानस्य, भेदा =प्रकारा ।
पञ्च । भवन्ति । यथा=तमो-मोह महामोह-तामिस्र-अन्धतामिस्राश्च । योग-
दर्शनेऽपि एतान् “अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशा” इति रूपेण वर्णितवन्त ।
करणवैकल्यात्—करणानाम् = पूर्वोक्त-एकादशेन्द्रियाणाम्, वैकल्यात्=अन्ध-
त्व-बधिरत्वदिदोषात् । अशक्तिश्च अशक्तिपदार्थश्च । अष्टाविंशतिभेदा
(भवति) (ये च भेदा ४९ कारिकाया वक्ष्यमाणा सन्ति) तुष्टि =
तुष्टिपदार्थश्च । नवधा=वक्ष्यमाणनवप्रकारा । सिद्धि =सिद्धिपदार्थ ।
अष्टधा=वक्ष्यमाण-अष्ट प्रकारा (भवति) तथा च विपर्ययस्य ५, अशक्ते २८,
तुष्टे ६, सिद्धे ८, भेदा सन्ति । मिलित्वा च ५० भेदा जायन्ते इति भाव ।

हिन्दी—विपर्यय के ५ भेद हैं, एकादश इन्द्रियकरणों के वैकल्य (अन्धत्व-
बधिरत्व आदि) दोषों के कारण अशक्ति के २८ भेद हैं जिन्हें हम ४६ वीं
हेतुमुपलक्ष्यम्नाह—स्येति । कथ्यन्त इति । गुणवैषम्यहेतुवा पञ्चाशत्संख्याका
भेदा अवान्तरविभागेन गण्यन्त इत्यर्थ ।

१ एषामेव समानत त्रै योगदर्शने ‘अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा’ इति
पञ्चविधविपर्ययमज्ञा । तत्र अनित्याणुचि-दुःखानात्मसु नित्यशुचिमुखात्मक्याति-
रविद्या तम । पुरुषबुद्धपोरेकात्मतेवास्मितामोह । सुखतृष्णा राग ‘महा-
मोह’ । दुःखजिघासा द्वेषो ‘तामिस्र’ । सर्वस्य प्राणिन स्वाभाविको मरण
वासोऽभिनिवेशोऽन्धतामिस्र’ इति मिथ्या । वक्ष्यते ‘भेदस्तमस’ इत्यग्निम-
कारिकायाम् ।

२ एकादशानामिन्द्रियाह्वकरणाना वैकल्यात् कुण्ठितत्वात् स्वस्वविषय-
ग्रहणसामर्थ्यात् एकादश, बुद्धिगणाना नवतुष्टीना विपर्यया नव, अष्टसिद्धीना च
अष्टाविति मिलित्वाऽष्टाविंशतिभेदाऽशक्तिरिति ‘एकादशेन्द्रियवधा’ इत्यत्र वक्ष्याम
इति भाव ।

कारिका में कहेंगे । और तुष्टि के ९, तथा सिद्धि के आठ भेद हैं जो कि वक्ष्यमाण हैं ॥ ४७ ॥

विषय के जो तम-मोह-महामोह इत्यादिरूप से ५ भेद बतलाये के अब उनके अवान्तर भेद बतलाते हैं—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।

तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

गी०—एतद् 'क्रमेणैव वक्ष्यते, तत्र विषयभेदा उच्यते—तमसस्त-
दष्टधा भेदः 'प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते—सोऽष्टामु प्रकृतिषु लीयन्ते प्रधान-
बुद्धयहङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु, तत्र लीनमात्मानं मन्यते मुक्तोऽहमिति ततोभेदः
एषः । अष्टविधस्य' मोहस्य भेदोऽष्टविध एवेत्यर्थः, यत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं
तत्र सङ्गादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो
मोह इति । दशविधो महामोहः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः
सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्च विषयाः, एवमेतेषु दशमु
महानोह' इति । तामिस्रोऽष्टादशधा—अष्टविधमैश्वर्यं' दृष्टानुश्रविका विषया
दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति विषदं नानुमोदन्ते, एषोऽष्टादशविधो
विकल्पस्तामिस्रः । यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका दश विषयास्त-
थान्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव, किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव अग्रयते-

१. उद्दिष्टं बुद्धिभेदानां पञ्चानसंख्यावत्त्वम् ।

२. तमःशब्दार्थमाह—प्रलय इति । विभज्यते—अज्ञानम्, प्रलयशब्दार्थो
विविच्यते । स इति । प्रकृतीराष्टसु लयमात्रेणात्मानं येन मुक्तं जानामि स
एषोऽज्ञानमूलकः प्रलयोऽष्टविधविषयत्वादष्टविधो तमोभेद इति भावः ।

३. अष्टविधविषयस्य । कथमष्टविधत्वन्तदाह—यत्रेति ।

४. दिव्यादिव्यतया दशविधरक्षणीयशब्दादि-विषयकत्वेन दशविधो
महामोह इत्यर्थः ।

५. तामिस्रस्याष्टादशत्वं कथन्तत्राष्टविधमिति । स्वरूपत उपायतमा
चानभिभूताः शब्दादयोऽणिमादयश्चाष्टादशरागजनकाः, देवरूपहन्यमानाश्च
द्वेषविषया भवन्तीत्यष्टादशविषयत्वात्तामिस्रोऽष्टादशविध इत्यर्थः । विषया
इति । इत्यष्टादश विषयस्तामिस्रस्तथाऽन्धतामिस्रोऽपि मरणदैवतोपघातादिभय-
जनितदुःखात्मकोऽष्टादशविध एवेत्यर्थः । इममेव विधेयमाह—किन्त्वित्यादिना ।

ऽष्टगुणैश्वर्याद्वा प्रपद्यते ततस्तस्य महद्बुद्धमुत्पद्यते सोऽन्धतामित्र इति । एव विषयभेदास्तम प्रभृतय पञ्च प्रत्येक भिन्नमाना द्विपट्टिभेदा सवृत्ता इति ॥

व्याख्या—तमस = अविद्याया । अयं भाव — प्रवृत्ति-महत्तत्त्व-अहङ्कार पञ्च-तन्मात्रेषु अनात्मसु आत्मबुद्धिरेव अनिद्या संव दम शब्देन कथ्यते, सा चाऽविद्या अष्टविधा, तथाहि—आत्मा प्रवृत्त्याऽभिन्न, आत्मा महत्तत्त्वाभिन्न, आत्मा अहङ्काराभिन्न, आत्मा शब्दतन्मात्राभिन्न, आत्मा स्पर्शतन्मात्राभिन्न, आत्मा रूपतन्मात्राभिन्न, आत्मा रसतन्मात्राभिन्न, आत्मा गन्धतन्मात्राभिन्न । तादृशात्मबुद्धे प्रवृत्त्यादिगन्धतन्मात्रपर्यन्त अष्टविधपदार्थविषयत्वात्तमाष्ट विधम् । (मोहस्य च = अस्मितायाश्च अष्टविधो भेद । अयं भाव — तपोव्रतेन देवादीनामष्टविध ऐश्वर्यशालित्वात् मोहस्वरूपाया अस्मिताया अष्टौ भेदा भवन्ति, तथाहि—अणिमात्मक ऐश्वर्यवानहम्, गरिमात्मक-ऐश्वर्यवानहम्, लघिमात्मक-ऐश्वर्यवानहम्, महिमात्मक-ऐश्वर्यवानहम्, प्राप्तिरूप-ऐश्वर्यवानहम्, प्राकान्म्यरूप-ऐश्वर्यवानहम्, वन्धित्वरूप ऐश्वर्यवानहम्, ईशित्वरूप ऐश्वर्यवानहम् ।

महामोह = राग । दशविध । अयमाशय — शब्दादय पञ्च ये च पञ्च-तन्मात्राशब्देनोच्यन्ते ते दिव्यादिव्यभेदेन दशविधा जायन्ते, तत्र ये शब्दादयो देवानां मुख्यजनकरागभूता सन्ति ते दिव्या, ये चाऽस्माकं मुख्यजनकरागभूतास्तेऽदिव्या सन्ति ।

तामित्र = द्वेष । अष्टादशधा । अयमाशय — शब्दादय पञ्च दिव्या — पञ्च अदिव्या पूर्वोक्ता वेदितव्या, एव च मिलित्वा दशविधा भवन्ति । एव तादृशशब्दादिसाधनभूतम् अणिमादिरूपमैश्वर्यमपि अष्टविध पूर्वोक्त वेदितव्यम् ।

अन्धतामित्र = अभिनिवेन । (अपि) । तथा = अष्टादशधा । भवति । अयमाशय — सत्त्वगुणबहुला हि देवादिप्रभृतय प्राणिनोऽणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यं प्राप्य शब्दादिदशविधविषयान् भुञ्जते । एवञ्च मिलित्वा विषयस्य द्विपट्टि भेदा जायन्ते । यथा तमसो मोहस्य च प्रत्यक्स्य अष्टौ भेदा वर्तन्ते, महामोहस्य दशभेदा, तामित्रस्य अष्टादनभेदा, अष्टादश एव भेदा सन्ति अन्धतामित्रस्य ।

हिन्दी—अनात्मभूतपदार्थों से आत्मबुद्धि करना ही तम (अविद्या) कहलाता है । जैसे—आत्म की प्रवृत्ति से, महत्तत्त्व से, अहङ्कार से, शब्द तन्मात्रा से, स्पर्शतन्मात्रा से, रूपतन्मात्रा से, रसतन्मात्रा से तथा गन्धतन्मात्रा से अभिन्न सम्बन्ध ही तम है । इस प्रकार वह तम प्रवृत्तितत्त्व से लेकर गन्ध तन्मात्रपर्यन्त आठ पदार्थों को विषय करने के नाते आठ प्रकार का हो जाता है ।

मोह—इसी प्रकार मोह भी आठ प्रकार का है। देवता लोग अणिमा-गरिमा-लघिमा-महिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-वञ्चित्व-ईञ्चित्व रूप आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करके “हम सिद्ध हैं” “हम अजर-अमर हैं” इस प्रकार के अभिमान-जन्य मोह के वशीभूत होकर उन मिद्धियों को स्थायी मग्न लेते हैं। इस दृष्टि से वह मोह भी अणिमा से लेकर ईञ्चित्वपर्यन्त अष्टविध मिद्धियों को विषय करने के नाते आठ प्रकार का हो जाता है।

महामोह—इसे राग, प्रेम आदि शब्दों में भी कहते हैं, यह दस प्रकार का है। शब्द प्रभृति पञ्चतन्मात्राएँ दिव्य और अदिव्य भेद से दशविध हैं। देवता लोग स्वर्ग में जिन शब्दादिकों का व्यवहार करते हैं वे दिव्य हैं और हमलोग जिनका व्यवहार करते हैं वे अदिव्य हैं सो उन शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं में से जो शब्दादि देवताओं के लिये सुख के कारणीभूत रागस्वरूप हैं वे दिव्य हैं, और जो हमारे सुख के कारण हैं वे अदिव्य हैं।

तामिन्—इसे द्वेष भी कहते हैं, यह १८ प्रकार का होता है। दिव्यादिव्य भेद से दशविध शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ तथा इनका साधनीभूत अणिमादि रूप अष्टविध ऐश्वर्य इन दोनों को मिलाकर १८ भेद होते हैं।

अन्धतामिन्—इसे अभिनिवेश अथवा भय भी कहते हैं। यह भी पूर्वोक्त दशविध शब्दादितन्मात्राएँ तथा अष्टविध ऐश्वर्य के भेद से १८ प्रकार का होता है ॥ ४८ ॥

अशक्ति के २८ भेदों को बतलाते हैं—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।

सप्तवश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

गौ०—अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते—‘भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टा-विंशतिभेदा’ इत्युद्दिष्टम्, तत्रैकादशेन्द्रियवधाः—‘वाधिर्यमन्धता प्रभृति-रूपजिह्वा घ्राणपाको मूकता कुणित्व स्वाक्षिप्त गुदावर्त्त. क्लेश्यमुन्माद इति । सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा, ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा

१. वाधिर्यमिति । वधिरभावः कर्णजक्तिनाश इत्यर्थः, अन्धता मेवशक्ति-विनाशः, प्रभृतिः त्वनशक्तिगून्यता, उपजिह्विका रसनाशक्तिहीनता, घ्राणपाकोजिघ्रसा घ्राणशक्तिनाश, मूकता वागिन्द्रियशक्तिविरह, कुणित्व कौण्यम् कुणोऽस्यास्तीति कुणो तस्य भावः कौण्यम् कस्याव्यभावः, स्वाक्षिप्त

भवन्ति । सप्तदश वधा बुद्धे' सप्तदश' वधास्ते तुष्टिभेदसिद्धिभेदसंप-
रीत्येन, तुष्टिभेदा नव सिद्धिभेदा अष्टौ ये तद्विपरीते सह एकादशविधा,
एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥ ४९ ॥

अन्वय — एकादश, इन्द्रियवधा, (सप्तदशस्वरूपा) बुद्धिवधे, सह,
(मिलित्वा) अशक्ति, (अष्टाविंशतिधा) उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनाम्,
विपर्ययात्, बुद्धे, वधा, सप्तदश, (भवन्ति) ॥ ४९ ॥

व्याख्या—एकादश । इन्द्रियवधा — इन्द्रियाणाम्=चक्षु-श्रोत्र त्वक्-रसन
घ्राण-वाक्-ग्राणि पाद वायु-उपस्थ मनसाम् । वधा = दौषा । यथा चक्षुषो-
जडत्वम्, श्रोत्रस्य बहिरत्वम्, घ्राणस्य अजिघ्रस्त्वम्, त्वक् कुष्ठित्वम्, रसनस्य
जडत्वम्, वाकोऽवकृतत्वम्, करयो (हस्तयो) करशक्त्यभाव (लूलापन),
पादयोगमनादिशक्तेरभाव (रुग्णडावन), पायो उदावर्त्त, उपस्थस्य तपुसक-
त्वम् इत्यादि । (सप्तदशस्वरूपा) बुद्धिवधे — तुष्टिसिद्धीना विपर्ययस्वरूपं
बुद्धिदोषं । सह (मिलित्वा) अशक्ति = अशक्तिपदार्थं । (अष्टाविंशतिधा)
उद्दिष्टा = कथिता । तुष्टिसिद्धीनाम् । विपर्ययात्=विपरीत्यात् । अर्थात्, प्रकृति-
उपादान-काल भाग्य-जन्मोपरम स्पर्शोपरम-रूपोपरम-रसोपरम गन्धोपरमनाम्नीना
नवतुष्टीना वधा अपि नवैव भवन्ति । यथा—अप्रकृति-अनुपादाना-अकाला-
अभाग्या-गन्धानुपरमा-स्पर्शानुपरमा रूपानुपरमा-रसानुपरमा-गन्धानुपरमाश्च ।
एव ऊह शब्द अध्ययन-आध्यात्मिकदुःखाभाव आधिभौतिकदुःखाभाव आधि-
दैविक दुःखाभावरूप दुःखविधानत्रय मुह्यत्प्राप्ति-दान स्वरूप अष्टसिद्धीना वधा
अपि अष्टौ एव भवन्ति । यथा—अनूह-अशब्द-अनध्ययन-आध्यात्मिकदुःख
आधिभौतिकदुःख आधिदैविकदुःख मुह्यत्प्राप्त्यभाव-दानाभावाश्च । एव च सर्वं
मिलित्वा तुष्टिसिद्धीना सप्तदशवधा जायन्ते, ११ वधाश्च इन्द्रियाणाम्, एव
क्रमेण अष्टाविंशतिभेदा अशक्तिर्भवति ॥ ४९ ॥

हिन्दी—चक्षु आदि ११ इन्द्रियो के वध (कुष्ठित्व) भी ११ ही हैं,
जैसे चक्षु का जडत्व, श्रोत्र का बहिरत्व त्वक् का कुष्ठित्व (कोढ़ हो जाना),
रसना का जडत्व (जिह्वाशक्ति का विनाश) घ्राण का अजिघ्रस्त्व, वाणी का

पहगुस्त्व पादशक्त्यभाव गुणावत वायुशक्त्यभावो उदावर्त्तापरपर्याय, वस्तु-
पण्डिता रतिशक्तिविरह, उपाद मनसः सङ्कल्पशक्त्यभाव इत्येते बुद्धिवधहेतु-
कत्वेन निर्दिष्टा एकादशेन्द्रियवधा इत्यर्थः ।

१ स्वरूपतो बुद्धिवधा कतीत्यत आह—सप्तदशेति । पुन इत्यत आह—तुष्टीति ।

अवकृतत्व, हाथों का लूनापन, पैरों का पङ्गुत्व, पायु का टट्टी न होना, उपस्थ का नपुंसकता, मन का स्मरणशक्ति का नाश हो जाना । इन्हीं ११ इन्द्रियों के बंधों की बुद्धिवधों के साथ मिलाकर अवशक्ति कहा है । अब प्रश्न यह होता है । कि वे बुद्धिवध कितने हैं और कौन-कौन से हैं ? इसका उत्तर कारिका में दिया कि नौ प्रकार की तुष्टियों और आठ प्रकार की सिद्धियों के विषय से १७ प्रकार भेद बुद्धिवधों के माने हैं । इस प्रकार ११ इन्द्रियवध और १७ बुद्धिवधों को मिलाकर अष्टादश २८ भेद अवशक्ति के हो जाते हैं । अवशक्ति के हो जाते हैं । अब रहा प्रश्न यह कि वे ६ प्रकार की तुष्टियाँ तथा ८ प्रकार की सिद्धियाँ कौन-कौन हैं इस प्रश्न का उत्तर हम क्रमशः ५० और ५१ वीं कारिकाओं के आधार पर देते ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्त नौ प्रकार की तुष्टियों को बतलाते हैं—

आध्यात्मिकव्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमतः ॥५०॥

गौ०—विपर्ययात्^१, तुष्टिसिद्धीनामेव भेदक्रमो द्रष्टव्यः, तत्र तुष्टि-
र्भवधा कथ्यते—आध्यात्मिकव्यश्चतस्रस्तुष्टयः, आध्यात्मनि भवा आध्यात्मिकव्य.^२
ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित्
प्रकृति वेत्ति तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्व तत् कार्यं वितायैव केवलं
तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्ष एवा प्रकृत्याख्या^३ । उपादानाख्या यथा कश्चिद-
विज्ञायैव तत्त्वानुपादानग्रहणं करोति त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष इति,
तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एवा उपादानाख्या^४ । तथा कालाख्या—

१. विपर्ययादिति । यतो विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनां सप्तदश बुद्धिवधा भव-
न्म्यतस्तेषामेव क्रमो वर्णनीयः प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वाद्धिरोविज्ञानस्येति भावः ।

२. प्रकृत्याद्यतिरिक्तमात्मानं ज्ञात्वाप्यसदुपदेशेन यो नात्मश्रवणादौ
प्रयतते तस्यात्मविपर्ययस्तुष्टयश्चतस्र आध्यात्मिकव्यो भवन्तीत्यर्थः ।

३. विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्त च सैव करोति कृतमात्म-
ध्यानाभ्यासेनेति कस्यचिदुपदेशेन तुष्टिः प्रकृत्याख्येति मिथ्या ।

४. प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न प्रकृतिमात्राज्जायते सर्वेषां सर्वदा प्रकृते-
रविशेषात्तदुत्पादप्रसङ्गात्, किन्तु प्रव्रज्ययाऽस्तत्तामुपाददीयाः कृतं ध्यानादिनेति
उपदेशेन वा तुष्टिः सोपादानाख्येति वाचस्पतिमिश्राः ।

वानेन मोक्षो भविष्यतीति किं तत्त्वाभ्यामनेत्येषा कालाभ्यां तुष्टिस्तस्य नास्ति
मोक्ष इति । तथा भाग्याख्या—भागेनैव मोक्षो भविष्यतीति भाग्याख्या,
चतुर्धा तु । गीत । बाह्या विषयोपरमात्पञ्च । बाह्यास्तुष्टय पञ्च विषयो-
परमात्, अन्तस्पर्शरूपरसगन्धेभ्यः उपरतोऽजनरक्षणक्षयमङ्गहिंसादोषदर्श-
नात् । वृद्धिनिमित्त पाशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहमेवा कार्या एतदर्जने दुःखम्,
अजितान्ता रक्षणे दुःखम्, उपभोगात् लीयत इति क्षयदुःखम्, तथा विषयो-
भोगमङ्गे वृत्ते नास्तोग्द्विद्याणामुपशम इति सङ्गदोष, तथा न अनुपहृत्य भूताद्यु-
पभोग इत्येष हिंसादोष, एवमजनादिदापदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टय
एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदाप्रव तुष्टय, तस्या नामानि धास्वान्तरे प्रोक्तानि—

अम्भ " सान्न मेधो वृष्टि सुतम पारसुनेत्र नारीकमनुत्तमाम्भसि-
कम्' इति । आसा तुष्टीना विपरीता अशक्तिभेदाद् वृद्धिवधा भवन्ति । तद्यथा—
अनम्भोऽम्भसिमेध इत्यादि वैपरीत्याद् वृद्धिवधा इति ॥ ५० ॥

अन्वय — प्रकृत्युपादानकालभाग्याध्या, चतस्र, आध्यात्मिकया, तुष्टय,

१ अत एव मदानसायास्तत्त्वज्ञानवत्या वर्षाम्यन्तराद्युष्काणि अपस्यानि
'स्व शुद्धोऽसि वृद्धोऽसि मा रुदिहि दुःखं नास्मद्यमे' इत्याद्युपदेशेन प्राग्भवीयमाग्य-
वशादेव विवेकस्यातिमिति मुक्तानि बभूवुरिति, भाग्याक्षेप तुष्टिरित्यर्थः ।

२ विषयोपरम एव कथमत आह—सन्देति । अर्जनादिदुःखदर्शनाद्यदा
शङ्कादिभ्य उपरतो भवन्ति तदा बाह्यास्तुष्टय पञ्चविधविषयविषयकत्वात्पञ्चै-
वेत्यर्थः । अर्जनादिदुःखमेव त्रिवृणोनि—वृद्धिनिमित्तमिति ।

३ उक्तविधनवतुष्टीना योगदर्शनोक्तानि सज्ञातराण्याहाम्भ इति । ससार-
मज्जनहेतुत्वमादित्यात्प्रकृतिगुष्टेरम्भ इति, ममरणनिमित्तत्वादुपादानगुष्टे
समिलमिति, कालप्रतीक्षाया उन्नापकत्वात्कालगुष्टेर्मेध इति, अकस्मात् विवेक-
स्यातिमेवनाद्भाग्याध्या तुष्टिवृष्टिरित्येवमाध्यात्मिकीना तुष्टीना सज्ञा । एव-
मर्जनदुःखस्यास्य त भयावहत्वात्पुनरिति, रक्षणकाले भोगाभिलाषपूर्या तद्
दुःखस्य पारगमनसम्भवाद् द्वितीया पारमिति एव सद्यदोषदर्शनादप्रवृत्तो दुःख-
पारगमनात्तृतीया मुनेप्रमिति, सङ्गदोष भावयतो नास्त्यरिगिति चतुर्थी नारीक-
मिति, तथा हिंसादोषदर्शनाग्राप्ति अन्यत् जलरत्नं वाग्व्योत्पन्नमिति पञ्चम्य-
नुत्तमाम्भसिकमित्येव बाह्यान्तुष्टयो वैराग्ये गतिं जायन्ते इति वैराग्यहेतुपञ्च-
त्वात्पञ्चैति भावः । एनाञ्च पार सुपार पारापारमनुत्तमाम्भ उपमाम्भ इति
सज्ञापञ्चैव मिश्रं प्रोक्ता, एतेषा मुक्तामुत्तत्वे मुष्ठीभि स्वय विभावनीये ।

(सन्ति), विषयोपरमात्, पञ्च, बाह्याः, तुष्टयः, (सन्ति मिलित्वा) नव तुष्टयः, अभिमताः, (सांख्याचार्याणाम्) ।

व्याख्या—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः = प्रकृतिः—उपादानम्—कालः—भाग्यम् इति व्याख्या—नाम, यासां ताः । चतस्रः । आध्यात्मिक्यः = आत्मत्वेनाभिमताः । तुष्टयः = सन्तोषाः । (सन्ति) विषयोपरमात् = विषयेभ्यो दोषदर्शननिवन्धननिवृत्तिदर्शनात् पञ्च । बाह्याः = शब्दादिबाह्यविषयिण्यः । तुष्टयः । सन्ति । (एवं मिलित्वा) नव । तुष्टयः । अभिमताः । (सन्ति सांख्याचार्याणाम्) ।

हिन्दी—प्रकृति-उपादान-काल-भाग्य के चार अन्दर की इन्द्रिय मन को सन्तुष्ट करने वाली तुष्टियाँ हैं । बाह्यविषयों में दोषदर्शनप्रयुक्त उनसे निवृत्ति हो जाने के अनन्तर मन को जो शब्दादि पाँच विषयो द्वारा सन्तोष होता है उन बाह्यविषयों के पाँच होने के नाते पाँच बाह्य तुष्टियाँ हैं । इसी दृष्टि से ९ तुष्टियाँ सांख्यवालों ने मानी हैं ।

अब प्रश्न यह होता है कि इन प्रकृति आदि नौ प्रकार की आध्यात्मिक तथा बाह्य तुष्टियों से मन का सन्तोष अथवा प्रसन्नता कैसे होती है ?

इसका उत्तर यही दिया गया कि कोई गुरु अपने शिष्य को यदि यह उपदेश करता है कि हे ब्रह्म ! मोक्ष को सम्पन्न करने वाला विवेकज्ञान प्रकृति का ही परिणामविशेष है, क्योंकि वह प्रकृति से ही होता है अतः उस विवेकज्ञान के लिये आत्मा के श्रवण-मनन आदि व्यर्थ है इस प्रकार के उपदेश को हृदयंगम कर श्रवण आदि का सर्वथा परित्याग करके जो प्रकृति से ही अपने मन का सन्तोष करना है उसे प्रकृतितुष्टि कहते हैं । इसी को 'अंभ' भी कहते हैं ।

और यदि दूसरा गुरु अपने शिष्य को यह उपदेश करता है कि हे शिष्य ! बिना संन्यास के मोक्ष नहीं होता है अतः श्रवण-मनन आदि के प्रपञ्च को छोड़कर संन्यास ग्रहण करो, इस प्रकार के उपदेश से संन्यास के आधार पर होने वाली मन की सन्तुष्टि को "उपादान तुष्टि" कहते हैं, इसी का दूसरा नाम 'सलिल' भी है ।-उप = वृद्धावस्थायाः समीपे, आधीयते इति उपादानम् अर्थात् वृद्धावस्था के नजदीक आ जाने पर जिस धर्म का ग्रहण किया जाय उसी संन्यासधर्म को उपादान कहते हैं ।

संन्यास भी मुक्तिप्रद नहीं है अपितु कालसापेक्ष है अतः कालपरिपाकवशात्

वह खुद ही हो जायेगा, इस प्रकार के उपदेश में काल के आधार पर होने वाली मन-सन्तुष्टि का "कालतुष्टि" कहा गया है। इसे 'ओष' भी कहते हैं।

प्रवृत्ति से—उपादान से—काल से विवेकज्ञानद्वारा मोक्षप्राप्ति होने वाली नहीं है अपितु वह भाग्य के अनुकूल होने पर स्वयं ही हो जायेगी। जैसे मदातला के लड़कों को अत्यन्त बालक होते हुए भी माता के उपदेशमात्र से भाग्यानुकूल होने से विवेकज्ञान हुआ और उससे मोक्ष हुआ।

और शब्दादि पाँच बाह्य तुष्टियाँ सांसारिकविषयो में वैराग्य उत्पन्न होने के पश्चात् ही होती हैं। वैराग्य के पाँच प्रकार का होने के नाते बाह्य तुष्टियाँ भी पाँच प्रकार की हैं। कारिका में वैराग्य को विषयोपरमशब्द से कहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय हैं, और इनमें उपरम होना भी पाँच प्रकार का है—भजन, रक्षण, क्षय, भोग, हिंसा। इन पाँच प्रकार के दोगे का द्यन जब विषयों में हो जाता है तब विषयों से मनुष्य की निवृत्ति हो जाती है।

मरा, चाण्डाल आदि धर्म परमग्रहण के परन्तु इनके बिना धनोपाजन आदि बाध भी नहीं हो पाते। मालिक लोग जब कि अपने मेवकों को गले में हाथ देकर बाहर निकाल देने हूँ तब हीन मेवक सेवा करने में प्रवृत्त होगा। अतः धनोपाजन के इन उपायों का दुःखर समझ कर विचारशील व्यक्ति इनसे मवया विरक्त हो बैठना है। इसके पश्चात् मन में जो तुष्टि होती है उसे 'पार' कहते हैं।

धनोपाजन कर लेने पर भी चोर-डाकू बगैरहूँ से उन अर्जित धन की रक्षा करने में होने वाले कष्ट के अनुभव को देखते हुए उनमें भी दोषदर्शन होता है। उन दोषदर्शन से फिर विषयों में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस वैराग्य में जो मन में सन्तोष (तुष्टि) हाती है उसे 'सुपार' कहते हैं।

किसी प्रकार उस धन की रक्षा भी की जाय परन्तु फिर भी उपभोग में आने से उस धन की समाप्तिप्रयुक्त बहुत ही कष्ट होता है। इसमें भी विचारशील व्यक्ति के मन में उसकी नश्वरता को देखते हुए वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार के वैराग्य से होने वाली मन की तुष्टि का 'पारापार' कहते हैं।

एव विषयों के उपभोग से उनमें उत्तरोत्तर इच्छा ही तो बढ़ती रहती है। और उन विषयों के किसी समय न मिलने से भी बहुत कष्ट होता है। उस कष्ट से भी दोषदर्शनप्रयुक्त विचारशीलव्यक्ति के मन में वैराग्य उत्पन्न हो

जाता है, उस वैराग्य से उत्पन्न होने वाले मन के सन्तोष को 'अनुत्तमाम्भ' तुष्टि कहते हैं ।

इसी प्रकार कभी-कभी विषयों के उपभोग के लिये मनुष्य को प्राणियों की हिंसा भी करनी पड़ जाती है, उस हिंसात्मकदोषदर्शनप्रयुक्त भी विचारशील व्यक्ति के मन में वैराग्य पैदा हो जाता है । इस वैराग्य के आधार पर होने वाले सन्तोष को 'उत्तमाम्भ' नामक पञ्चम तुष्टि कहते हैं ॥ ५० ॥

अब आठ व प्रकार की सिद्धियों को बतलाते हैं—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविधातान्नयः सुहृत्प्राप्तिः ।

दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

गौ०—सिद्धिरुच्यते—ऊहो यथा कश्चिन्नित्यमूहते किमिह सत्यं किं परं किं नैःश्रेयसं किं कृत्वा कृतार्थः स्याम, इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते प्रधानादन्य एव पुनरप्यतोऽग्रा बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीत्येकं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो भवति, एषा 'ऊहा'ख्या प्रथमा सिद्धिः । तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्धयहङ्कारान्तमात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतत्रयपर्यं ज्ञानं भवति ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धिः^१ । अध्ययनाद् वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति, इत्येषा तृतीया सिद्धिः^२ । दुःख-विधातत्रयम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविधातायं गुहं समुप-गम्य तत् उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः । एवैव दुःखत्रयभेदात् त्रिधा कल्पनीया इति षट् सिद्धयः^३ । तथा सुहृत्प्राप्तिः, यथा कश्चित्

१. ऊहस्तर्कः आगमाविरोधिन्वायेनागमार्थपरीक्षणम्, परीक्षणं च संशय-पूर्वपक्षनिराकरणोत्तरपक्षव्यवस्थापनं यन्मननमाचक्षते आगमिन इति मिश्राः । अस्याश्च सन्मते तारतारमिति संज्ञेतन्मते तु तारमिति विशेषः ।

२. अध्ययनकार्यशब्दजन्यार्थज्ञानरूपेयं 'सुतारम्' इति मिश्रमतेऽपि व्यप-दिष्यत इति न कश्चिद्विशेषः ।

३. गुरुमुखात् अख्यात्मविद्यामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं 'तार'मिति संज्ञया व्यपदिष्टा मिश्रमते प्रथमा सिद्धिरियं बोद्धव्या ।

४. एता मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतया त्वितरा गोप्यः पञ्च सिद्धयस्ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः, तत्राध्ययनरूपा सिद्धिर्हेतुरेव मुख्यास्तु हेतुमत्त एव, मध्यमा सहशब्दसुहृत्प्राप्तिदानाख्या हेतुहेतुमत्त इति तत्त्वकीमुदी ।

सुहृज्ज्ञानमग्निगम्य मोक्ष गच्छति, एषा सप्तमी सिद्धि^१ । दानं यथा कश्चिद्भूगवाः प्रत्याश्रयोपधिनिदण्डकुण्डिकादीनां आसाच्छादनादीनां च दानेनोप-
कृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति, एषाष्टमी सिद्धि^२ । आमाभष्टानां
सिद्धीनां शास्त्रान्तरे सज्ञा कृता — 'तार सुतार तारतार प्रमोद प्रमुदितं
प्रमोदमानं रम्यकं सदाप्रमुदितम्' इति । 'आसा विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरी-
तास्ते अशक्ती निक्षिप्ता — यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम् ।
अशक्तिभेदा^३ अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवर्धरेकादशेन्द्रियवधा इति । तत्र
तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धीनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधा, एतै
सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदा पञ्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तिस्तुष्टि-
सिद्धीनामेवोद्देशो निर्देशश्च^४ कृत इति । किञ्चाग्यत् सिद्धे^५ पूर्वोऽष्टकुशस्त्रि-
विध, मिद्वे पूर्वा या विपर्ययाशक्तिस्तुष्टयस्ता एव सिद्धेरष्टकुशस्तद्भेदादेव
त्रिविध, यथा हस्ती पृहीताष्टकुशेन वशो भवति, विपर्ययाशक्तिस्तुष्टिभिर्पृहीतो-
सोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेता परित्यज्य सिद्धिं सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते
तस्मान्मोक्ष इति ॥ ५१ ॥

अन्वय — ऊह, वाच्य, अध्ययन, त्रय दुःखविधाता सुहृत्प्राप्ति दानं च
(इति) अष्टौ सिद्धयः । सिद्धे पूर्व अष्टकुश त्रिविधः ।

ध्यास्या — अध्ययनम् = आरमभज्ञानम्, अर्थात् शास्त्रीयविधिविधानपूर्वक-
माध्यात्मिकविद्यानां गुरुमुक्तात् अध्ययनमित्यर्थः । इयं प्रथमा सिद्धिः "स्तार"-

१ न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धांते न यावद्गुरुशिष्यत्रह्यचारिभि
सह सवाद्यतेऽनं सुहृदामुक्तमवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिश्चतुर्थी सिद्धिः
रम्यकमिति मिथ्यतम् ।

२ ईप्सु शोधन इत्यस्माद्वातोर्दानपदव्युत्पत्तेः, सदाप्रमुदितनाम्ना व्यपदिष्टेय
पञ्चमी सिद्धिमिथ्यै ।

३ प्रदर्शितस्तुष्टिसिद्धिविपर्ययाशक्तिभेदसंस्मरणपूर्वकत्वं प्रदर्शयन्नष्टाविंशति-
संख्यां सङ्कलयति — अशक्तीति ।

४ नाममात्रेण सङ्कीर्तनमुद्देशः, लक्षणपूर्वकं नामकीर्तनं च निर्देश इति ।

५ अत्र समासेन चतुर्विधे बुद्धिमर्मे मिद्विरुपादेया तन्निवारिका विपर्यया-
शक्तिस्तुष्टयो हेया इत्याह — सिद्धेरिति । पूर्व इति विपर्ययादित्रयग्रहणम् । ता
सिद्धिकरिणीनामष्टकुशो निवारकत्वात्, अतः सिद्धपरिपन्थिन्वा द्विपर्ययाशक्तिस्तुष्टयो
हेया इति मिथ्या । तद्भेदादेव विपर्ययादिभेदाभावात्, अष्टकुशोऽपि त्रिविध इत्यर्थः ।

मित्युच्यते । शब्दः=संक्षेपया शब्दजन्यमर्थज्ञानमित्यर्थः । इयं द्वितीया सिद्धिः सुतारमित्युच्यते । ऊहः=आगमाविरोधिन्यायेन आगमजन्य अर्थपरीक्षम्, परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेन उत्तरपक्षव्यवस्थापनम् । इयं तृतीया सिद्धिस्तारतारमित्युच्यते । सुहृत्प्राप्तिः—सुहृदाम्=गुरुशिष्यब्रह्मचारिणां, प्राप्तिः=लाभः । अर्थात् स्वयं परीक्षितस्यापि अर्थस्य तावन्न निर्दुष्टत्व-प्रकारको निश्चयो भवति यावत् गुरुशिष्यसतीर्थः सह न संवाद्यते इतीयं सिद्धिः “रम्यकम्” उच्यते । दानम्=संशयविपर्यय-आदिदोषाणां निराकरणेन विवेक-ज्ञानशुद्धिः, सा च शुद्धिः बहुकालपर्यन्तम् अभ्यासपरिपाकेन विना न भवतीति सेयं सिद्धिः सुहृदामुदितमित्युच्यते । त्रयः दुःखविधाताः=आध्यात्मिक-आधि-भौतिक-आधिदैविक-पूर्वोक्तदुःखत्रयः । इमा एव तिलो मुख्याः सिद्धयः सन्ति, एताश्च क्रमशः प्रमोदमुदितमोदमाना उच्यन्ते । आसाम् अष्टानां सिद्धीनां प्रतिबन्धकीभूता विपर्ययाशक्तितुष्टयः सर्वया परित्याज्या भवन्तीत्याह—“सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः” । सिद्धेः=अष्टविधायाः सिद्धेः । पूर्वः=पूर्वोक्तः । विविधः=विपर्ययाशक्तितुष्टिस्वरूपः त्रिप्रकारः । अङ्कुशः-अङ्कुश इव सिद्धेः प्रतिबन्धकः । यथा अङ्कुशेन शासितोऽश्वादिर्बन्धो भवति तथा विपर्ययाशक्तितुष्टिभिः सिद्धेः प्रतिरोधो जायते लोक-संसारचक्रे नितरां सुनरां भ्रमति । सिद्धिप्रतिबन्ध-कृत्वात् विपर्ययाशक्तितुष्टयो ह्याः सिद्धिश्चोपादेया भवति मुमुक्षूणाम् । यतोऽ-ष्टाभ्य एव सिद्धिभ्यो विवेकज्ञानं भवति, तस्माच्च मुक्तिर्जायते इति भावः ।

हिन्दी-ऊह, शब्द, अध्ययन तथा आध्यात्मिक प्रभृति दुःखत्रय के तीन प्रकार के विघात, सुहृत् प्राप्ति एवं दान ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ हैं । जिनमें तीन प्रकार की दुःखविधातात्मक सिद्धियाँ मुख्य हैं और इतर पाँच इन तीन सिद्धियों की साधनभूत होने के नाते गौण हैं ।

विना उपदेश के अर्थात् पूर्वजन्म से आधार पर ही तर्कबल से शास्त्रों के अर्थ का निश्चय करना रूप सिद्धि को ऊह कहते हैं । इसी का दूसरा नाम ‘तारतार’ भी है ।

शास्त्र श्रवण करने के पश्चात् क्रिया-कारक आदि शब्दों के आधार पर होने वाले अर्थज्ञान को शब्द सिद्धि कहा है । इसी का दूसरा नाम सुतार-सिद्धि भी है ।

शास्त्रीय विधिविधान के आधार पर ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरु के मुख से आध्या-

रिमक विद्वानों के अध्ययन से होने वाले आत्मज्ञान को अध्ययन सिद्धि कहते हैं, इसका दूसरा नाम तार भी है ।

दुःखविधातस्वरूप सिद्धियाँ तीन प्रकार की हैं । जैसे—आध्यात्मिक दुःख-विधात, आधिभौतिक दुःखविधात, आधिदैविक दुःखविधात । दुःखों के त्रिविध्य से उनका विधात भी तीन प्रकार का है । और दुःखविधात (दुःख ध्वंस) अन्तिम फल होने के नाते मुख्य सिद्धि है और इतर इसके साधन हैं अतः वे गौण हैं । इन तीन प्रकार की सिद्धियों के क्रमशः दूसरे नाम ये हैं—प्रमोद-मुदित-मोदमान ।

स्वयं अन्वय व्यतिरेक के आधार पर तर्क के द्वारा सुनिश्चित किये हुए अर्थ (विषय) का ज्ञान यदि फिर से उसे दृढ़ करने के लिये अपने विद्वान् मित्रों की प्राप्ति (ससर्ग) से किया जाय तो उसे सुहृत् प्राप्ति सिद्धि कहते हैं । इसका दूसरा नाम "रम्यक" है ।

सशय विपर्यय आदि दोष ज्ञानों का निराकरण करते हुए जो विवेक ज्ञान की शुद्धि करना है उसे दानसिद्धि कहते हैं । और वह शुद्धि बहुत काल पर्यन्त होने वाले अभ्यास की परिपक्वता के बिना नहीं हो सकती है । इसका दूसरा नाम 'सदामुदित' सिद्धि भी है ॥ ५१ ॥

प्रश्न—पुरुष के भोगापवगरूप अर्थ (प्रयोजन) के लिए जो एकादश गणात्मिका तथा पञ्चतन्मात्रात्मिका सृष्टि २४ वीं कारिका में बतलायी गयी थी उस द्विविध सृष्टि की क्या आवश्यकता है एकविध सृष्टि से ही जबकि पुरुष का वह अर्थ सिद्ध हो सकता है ।

न बिना भावैर्लिङ्गं न बिना लिङ्गेन भावनिवृत्तिः ।

लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥५२॥

गी०—अथ तदुक्त भावैरधिवासित लिङ्ग, तत्र भावा धर्मादयोऽष्टा बुक्ता बुद्धिपरिणाम विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणता, स भावाख्य प्रत्ययसर्गो^१ लिङ्गश्च तन्मात्रमग्रेऽतुदंशभूतपर्यन्त उक्त, तत्रैवेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह—भावैः प्रत्ययसर्गेविना^२ लिङ्गं न तन्मात्रसर्गो

१ विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिरूपेण परिणता धर्मादयोऽष्टौ भावा एव भावाख्यो बुद्धिसर्ग इत्यर्थः ।

२ धर्मादिसहितैर्भोगसाधनैरिन्द्रियान्त करणादिभिर्विना ।

न, पूर्वपूर्वसंस्कारादृष्टकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य^१, लिङ्गेन तन्मात्रसर्गेण च विना भावनिवृत्तिर्न स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वादमदिः, ^२अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषात्, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यवतीनां परस्परानपेक्षित्वात्, तस्माद्भावाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्तते सर्व इति ॥ ५२ ॥

अन्वयः—भावैः, विना, लिङ्गम्, न, (भवति) लिङ्गेन, विना, न, भावनिवृत्तिः, तस्मात्, भावाख्यः, लिङ्गाख्यः, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्तते ।

व्याख्या —भावैः=पूर्वोक्तधर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्थैः विना=धर्माधर्मादि-अष्टविधभावपदार्थोपलक्षितबुद्धिसर्गं विना । लिङ्गम्=लिङ्गसर्गः । न सम्भवति । लिङ्गेन=तन्मात्रसर्गेण । विना । न भावनिवृत्तिः=भावपदार्थानाम् उत्पत्तिः । तस्मात्=प्रत्येकेन विना द्वयोः स्वरूपस्यैवानुपपन्नत्वात् । भावाख्यः=बुद्धिसर्गः । लिङ्गाख्यः=लिङ्गसृष्टिः, शब्दादितन्मात्रसृष्टिरित्यर्थः । द्विविधः । सर्गः=सृष्टिः । प्रवर्तते=उत्पद्यते ।

अयमामयः तन्मात्रसर्गस्य पुरुषार्थसाधनत्वं स्वरूपञ्च न बुद्धिसृष्टिं विना भावितुमर्हति । एवं बुद्धिसर्गस्य स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वञ्च न तन्मात्रसृष्टिं विना इत्युभयया उभयविधः सर्ग आवश्यकः ॥ ५२ ॥

हिन्दी—धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्यरूप । अष्टविधभावभूतस्थूल पदार्थों के विना सूक्ष्म शरीरप्रभृति लिङ्गपदार्थों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है । कारण कि संसार के सभी उत्पत्तिशील पदार्थों के विषय में ऐसा नियम है कि उनमें से किसी की उत्पत्ति धर्मनिबन्धन है तो किसी की अज्ञान से इत्यादि । अतः सूक्ष्म शरीर प्रभृति लिङ्ग पदार्थ भी कार्य होने के नाते भाव पदार्थों से सापेक्ष हैं जिससे भाव पदार्थों की सृष्टि आवश्यक है ।

१. स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तेः ।

२. ननु धर्मादयो भावाः शरीरापेक्षाः, शरीरं धर्मादिपेक्षानित्यन्योन्याश्रय-दोषादुभयस्याप्यसम्भव इत्यत आह—अनादित्वाच्चेति । सर्गप्रवाहस्यानादित्वादविच्छिन्नतत्वात्, यथा बीजं प्रथममङ्कुरो नेत्यनिर्णयेऽपि नेतरैतराश्रय-दोषस्तथा बुद्धेरनादितया तत्संयोगस्याप्यनादित्वेन संसारप्रवाहस्यानादितयो-भयविधसर्गेनान्योन्याश्रयदोष इति भावः । अन्योन्याश्रयाभावे हेतुमाह—तत्तदिति ।

इसी प्रकार न लिङ्ग पदार्थों के बिना भाव पदार्थों की ही उत्पत्ति (उत्पत्ति) हो सकती है, क्योंकि अनुभव सिद्ध है सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति होती है। लिङ्ग मृष्टि सूक्ष्ममृष्टि कहलाती है और भावमृष्टि स्थूलमृष्टि कहलाती है। अतः तन्मात्रगणस्वरूप लिङ्ग मृष्टि ही भावभूतस्थूल मृष्टि का आधार है, जैसे न्याय में परमाणुओं को ही स्थूलपृथिवी-स्थूलजल आदि स्थूल मृष्टि का कारण माना है। इसलिए भावास्य और लिङ्गास्य दोनों प्रकार की मृष्टि आवश्यक है।

दूसरी बात यह भी है कि साह्य ने पुरुष के भोगापवगण्य अर्थ के लिये ही तो मृष्टि मानी है, सो उन दोनों अर्थों में से भोगात्मक पुरुष का अर्थ भोग्यशब्दादि पञ्चतन्मात्राओं के बिना कैसे सम्पन्न हो सकता है। एव भोग का साधन बाह्य दशविष्य इन्द्रियों को तथा अन्तःकरण मन को भी माना गया है इसलिये तन्मात्रमृष्टि आवश्यक है।

इसी प्रकार वे भोग के साधनभूतकरण धर्म अधर्म आदि भावपदार्थों के बिना सम्भव नहीं हैं अतः भावपदार्थों की मृष्टि भी आवश्यक है। इस प्रकार दोनों मृष्टियाँ अन्योन्याश्रित हैं इसलिये दोनों आवश्यक हैं ॥ ५२ ॥

भौतिक मृष्टि का विभाजन तथा विवेचन करते हैं—

अष्टविकल्पो देवैस्तेर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।

मानुष्यदक्षैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

गी०—किञ्चाग्यत्—तत्र देवमष्टप्रकारम्—बाह्य प्राजापत्य सौम्यमन्द्र गाधर्व याक्ष राक्षस पैशाचमिति । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतायेव पञ्चविधस्तैरश्च । मानुषयोनिरेकैव इति चतुदश भूतानि ॥ ५३ ॥

अन्वय—देव, अष्टविकल्प, भवति, तैर्यग्योनश्च, पञ्चधा, भवति, मानुष्यश्च, एरविध, भवति, (इति) समासतः, भौतिक, सर्ग, (अस्ति) ।

व्याख्या—देव = देवानामथ देव देवसर्ग, देवताना मृष्टिरित्यर्थः । अष्टविकल्प = अष्टविधः । (अस्ति) यथा—(ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गाधर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच । तैर्यग्योनश्च = तैर्यग्योन, निर्गन्गातीयमर्गं पञ्चधा । यथा—पशु पक्षि मृग सप वृक्ष आदि भेदात्मकः ।

१ ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षयैकत्वमिदं बोध्यम्, सस्यानम्य सर्व-प्राविशेषादिति । इतीति । सक्षेपतोऽयं भौतिकः सर्ग उक्त इत्यर्थः ।

मानुषकः=मनुष्याणामयं मानुष्यकः, मनुष्यजातीयसर्गः एकविधः । (अथ मनुष्यत्वरूपसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सर्वेषां मनुष्याणामेकरूपेण बोधो जायते—“सर्वे मनुष्याः” इति, परन्तु देवजातीयानां तिर्यग्जातीयानां वा सामान्य-लक्षणप्रत्यासत्त्या एकरूपेण बोधो न जायते, यथा घटत्वेन पटजातीयानां मटजातीयानां वा बोधो न भवति इति भावः) समासतः=संक्षेपतः । भौतिकः=स्थूलपञ्चभूतविकारात्मकः । सर्गः=इयं सृष्टिः ।

हिन्दी—समास (संक्षेप) से भौतिक सृष्टि १४ प्रकार की है । जिसमें ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, वैश्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच यह आठ प्रकार की सृष्टि देवताओं की है । इनमें ब्रह्मसम्बन्धी ब्राह्मलोक तीन हैं, सत्यलोक-तपलोक-जनलोक । सत्यलोक में स्वयं ब्रह्म का वास है, अथवा “ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति” इस श्रुति से योग्य स्वयं ब्रह्मभूत जीव जो कि अत्यल्पदशी २००० के अपासक परमहंसस्वरूप हैं निवास करते हैं । और इसके नीचे तपसालोक में अभास्वर महाभास्वर सत्यमहाभास्वरसंज्ञक देवतालोक जो कि ब्रह्म के साक्षात् सन्निकृष्ट हैं तथा कुछ अहंकार की मात्रा वाले हैं निवास करते हैं । उसके नीचे तपलोक में जितेन्द्रियब्रह्मपुरोहित-ब्रह्मकायिक-ब्रह्ममहाकायिक अमरलोक निवास करते हैं । (२) और ‘मह’ नामक प्रजापति के लोक में क्रुमुव, ऋभव, प्रतर्दन, अजनाभ, अमिताभसंज्ञक, एक हजार कल्प की आयु वाले देवता लोग वास करते हैं । (३) उसके नीचे वाले इन्द्र के स्वर्गनामक ऐन्द्रलोक में अग्निमांदि अष्टविध ऐश्वर्यसंपन्न-स्वेच्छोपास-विग्रह-एककल्प की आयु वाले कामलम्पट-देवता लोग वास करते हैं । (४) वैश्रलोक में पितृलोक रहते हैं । (५) मेरुपर्वत के पृष्ठभाग में गन्धर्वलोक रहते हैं । (६) गन्धमादनपर्वत के ऊपर अपने भाइयों के तथा यक्ष सम्बन्धी अपनी प्रजा के सहित भुवैर रहता है, यही यक्षों का याक्षलोक है । (७) वितललोक को छोड़कर अतल, सुतल, तलातल, रसातल आदि ६ लोकों में राक्षस लोग वास करते हैं । (८) और वितललोक में भूत-प्रेत-पिशाच-शृङ्गारास-कूष्माण्ड-विनायक आदि लोग रहते हैं और पशु, पक्षी, मृग, सर्प, वृक्ष, आदि तिर्यक् जातीय सृष्टि पाँच प्रकार की है । और एक प्रकार की मानुषी सृष्टि है । इस प्रकार सब मिलाकर चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि है ॥ ५३ ॥

चौदह प्रकार की भौतिक सृष्टि का संक्षिप्त रूप ऊर्ध्व-मध्य-अधोरूप से तीन प्रकार का है—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च भूलतः सर्गः ।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

गौ०—त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते^१—
ऊर्ध्वमिति । अष्टमु देवस्थानेषु सत्त्वविशाल सत्त्वविस्तार सत्त्वोत्कट ऊर्ध्व-
सत्त्व इति, तत्रापि रजस्तमसी स्त । तमोविशालो भूलतः, पञ्चादिषु स्था-
वरान्तेषु सर्वं सगस्तमसाधिक्येन व्याप्तं, तत्रापि^२ सत्त्वरजसी स्त । मध्ये
मानुषे रज उत्कट, तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते, तस्माद् दुःखप्राया मनुष्या ।
^३एव ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं, ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः । एवमभौतिकं सर्गं
लिङ्गसर्गं भावसर्गं भूतसर्गं देवमानुषतैर्यग्योना इति, एष प्रधानवृत्त षोडश-
विध सग^४ ॥ ५४ ॥

अन्वयः—ऊर्ध्वम्, सर्गं, सत्त्वविशाल, भूलतः, सर्गं, तमोविशाल,
मध्ये, सर्गं, रजोविशाल, (सोऽयं सर्गं) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं, (वर्तते) ।

व्याख्या—ऊर्ध्वम् = भुव स्वर्गमहर्जनतप सत्यलोकेषु । सत्त्वविशालम् =
सत्त्वगुणप्रधान । सर्गं = मृष्टि (वर्तते) भूलतः = पातालदि अधोलोकेषु ।
तमोविशाल = तम-प्रधान । सग = मृष्टि । (वर्तते) मध्ये = मध्यलोके
पृथिव्याम् । रजोविशाल = रजोगुणप्रधान । सर्गं । (वर्तते) (सोऽयं त्रिविध
सर्गं) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं = ब्रह्मादिन दैत्यदानवपशुपक्षिवृक्षलतादिपर्यन्त
सर्गं । तथा च चतुर्दशभुवनात्मकब्रह्माण्डमिदं सत्त्वविशालम् रजोविशालम्
तमोविशालञ्चेति कथितं सक्षेपतन्त्रिविधं सग ॥ ५४ ॥

१ भौतिकस्यास्य सगस्य चैतन्योत्कर्षनिष्पत्तारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्य-
भावेन त्रैविध्यमाहोर्ध्वमिति मिथ्या । सत्त्वविशालशब्दस्य पर्यायात्तरैरर्थमाह—
सत्त्वविस्तार इत्यादिना । सत्त्वगुणप्रधान इति यावत् । अत एवाह—तत्रापीति ।

२ तमोबहुलस्तम प्रधान इत्यर्थः । अत एवाह—तत्रापीति ।

३ भूलोको धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च रजोगुणप्रधान इति
मिथ्या । लोकस्थिति सक्षिपति—एवमिति ।

४ लिङ्गभावभेदेन द्विविधोऽभौतिकः, अष्टविधो दैवः, पञ्चविधस्तैर्यग्योना
एकविधो मानुष्यक इति विनित्वा चतुर्दशविधो भौतिकः सर्ग इत्येव प्राधानिक
षोडशविध इत्यर्थः ।

हिन्दी—ब्रह्मा, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र प्रभृति आठ प्रकार की स्वर्गादिलोकों से सम्बन्धित देवसृष्टि है जिनका निरूपण हम ५३वीं कारिका में कर चुके हैं । त्रिगुणात्मक होते हुए भी सत्त्वगुणप्रधान होने के नाते सर्वदा सुखी है । और नीचे के लोकों से अर्थात् अतल वितल आदि से सम्बन्धित सृष्टि भी यद्यपि त्रिगुणात्मक है परन्तु फिर भी वह तमोगुणप्रधान है इसलिये उन लोकों में रहने वाले जीव अपने अज्ञानवश सर्वदा दुःखी ही रहते हैं । एवं मध्यलोक भूलोक में वास करने वाली मनुष्यजातीय एक प्रकार की समस्त सृष्टि यद्यपि त्रिगुणात्मक है रजोगुणप्रधान । इस मध्यसृष्टि के अन्दर ब्रह्मा तथा मनु आदि से लेकर क्षतावृक्षपर्यन्त समस्त सृष्टि का सन्निवेश हो जाता है । इस सृष्टि के अन्दर मनुष्य प्रभृति लोग भी शोक, मोह, रोग, आदि से हमेशा संशस्त और दुःखी रहते हैं ॥ ५४ ॥

सृष्टि प्रकरण का निरूपण समाप्त कर यह समस्तसृष्टि दुःखरूप है अब इस बात को हम बतलाते हैं—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

गो०—^१तत्रेति । तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु जरामरणकृतं चैव दुःखं चेतनः चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति^२, न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो न तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च । किमन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोति तद्वि-
बिनक्ति— लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति । यत् तन्महदादि^३ लिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन् निवृत्तं संसारशरीरमिति यावत्, संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति, 'लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, लिङ्गस्य

१. तदेवं सर्वं निरूप्य तस्यापवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनी दुःखहेतुतामाह—
तत्रेति ।

२. तस्माद्दुःखं स्वभावेन स्वत एव सर्वो दुःखरूपः विवेकिनामिति अत्र पूरणीयम् । दुःखादिप्राकृतगुणानां कथं चेतनसम्बन्धितेत्यत उक्तं पुरुष इति । पुरि लिङ्गं शेते इति पुरुषः, लिङ्गं च तत्संबन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीति मिश्राः । एवं च अद्वैतकृत्यादिषु वर्तमानस्यापि दुःखस्योपलब्धिः पुरुष एव भवतीत्याशयेनाह—न प्रधानमित्यादिना ।

३. स्थूलशरीर इत्यादिः । संसारशरीरं सूक्ष्मशरीरम् ।

विनिवृत्ति^१ यावत्, लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति । तत् पुनः केन निवर्तते ? यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वगुरुष्वपान्यथास्माद्वि-
लक्षणम्—इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पञ्चन-मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि
पञ्चमहाभूतानि येभ्योऽयं पुरुषो विषदूष इत्येव ज्ञानात्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो
मोक्ष इति ॥ ५५ ॥

अन्वय—तत्र, लिङ्गस्याविनिवृत्ते, चेतन, पुरुष, जरामरणकृतम्,
दुःखम्, स्वभावेन, प्राप्नोति, तस्मात्, स्वभावेन, (भवति) ।

व्याख्या—तत्र = देव-मनुष्य-तिर्यग्जातीयेषु नानाविधशरीरेषु । लिङ्गस्य =
सूक्ष्मशरीरस्य । अनिवृत्ते = निवृत्तेरभावात् । चेतनः । पुरुषः । जरामरण-
कृतम् = वृद्धत्वमृत्युकृतम् । दुःखम् । स्वभावेन । प्राप्नोति । तस्मात् कारणात् ।
दुःखम् । स्वभावेन । (भवति) ॥ ५५ ॥

हिन्दी—देव, मनुष्य, तिर्यग्जातीय नानाविधस्थूल शरीरो मे सूक्ष्म शरीर
के बराबर बने रहने से चेतन पुरुष जरा एव मरणजन्य दुःख को स्वभावतः
प्राप्त करना रहता है इसलिये चेतन पुरुषो को दुःख स्वाभाविकरूप से होता
ही रहता है ॥ ५५ ॥

अत्र मृष्टि के कारण के विषय में प्राप्तन विभिन्न मतों का निराकरण
करते हुए प्रकृति में मृष्टि कारणत्व का व्यवस्थापन करते हैं—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः ॥ ५६ ॥

गौ०—प्रकृते किमस्ति आरम्भ^१ इत्युच्यते—परिममाप्ती निर्देशे च,
प्रकृतिकृती^२ प्रकृतिवरणे प्रकृतिविषयाया आरम्भो महदादिविशेषभूत-

१ कुतः पुनर्लिङ्गमन्वयिदुःखं पुरुषस्येत्यत आह—लिङ्गस्याऽविनिवृत्ते ।
पुरुषाद्भेदाग्रहान्लिङ्गधर्मन् दुःखादीन् आत्मन्यवस्थस्यैव पुरुष इति मिथ्या ।

२ ज्ञानेन लिङ्गनिवृत्ते प्रकारमाह—यदेति ।

३ उक्तस्य सगंस्य कारणविप्रतिपत्तीनिराकरोति इत्येष इति मिथ्या ।
सगंस्य प्रकृतिमात्रारब्धत्वं वक्तुमुपमहर्ति इत्येष इति नारायणतीर्थः ।

४ प्रकृतिविषयाया प्रधानव्यापारे य आरम्भो महदादिरूप इत्यनेन ब्रह्मादृष्टा-
दिव्यापारत्व तस्य निरस्तम् । अत्र प्रकृतिवृत्त इति प्रथमान्तपाठस्य मिथ्या-
दिमम्मतत्वेऽपि एतन्मते सप्तम्यन्तस्यैव पाठस्य व्याख्यानात्स एवात्र मुद्रितः ।

पर्यन्तः, प्रकृतेर्महान् महोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीत्येष प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं पुरुषं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः कथम् ? स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः, यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति एवं प्रधानम्, पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति, स्वार्थं इव न च स्वार्थः परार्थ एव, अर्थः शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः अन्ते च मोक्षेणेति प्रधानस्य प्रवृत्तिः, तथा चोक्तम्—'कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इत्येषः, महादिविशेषभूतपर्यन्तः आरम्भः, स्वार्थं, इव, प्रति-पुरुषविमोक्षार्थम्, परार्थं, आरम्भो (भवति) ।

व्याख्या—इत्येषः=पूर्वकथितः । महादिविशेषभूतपर्यन्तः = महत्त्व-मारम्भ विशेष (स्थूल) भूतपर्यन्तः । आरम्भः=सिद्धसर्गः, प्रकृति पुरुषश्च विहाय त्रयोविंशति २३ तत्त्वारमकः सर्गः । प्रकृतिकृतः=प्रकृत्या कृतो वर्तते ।

निर्मयमयं सर्गः प्रकृत्या क्रियते ? क्रियते चेत्, प्रवृत्तिशीलामास्तस्याः प्रकृतेः अनुपरमात् सर्वदैव सर्गः स्यादिति न कोऽपि पुरुषमुच्येत ? इत्यत आह—“प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः” अर्थात् यथा ओदनकामना-यान् कश्चित् पुत्रप ओदनसम्पन्नाय ओदनपाके प्रवर्तते सिद्धौ च निवर्तते—एवमेव सर्वान् पुरुषान् मोचयितुं प्रवृत्ता प्रकृतिः य पुरुषं मोचयति तं पुरुषं पुनरपि प्रवर्तते, तदिदमाह—‘स्वार्थं इव’ अर्थात् यथा कश्चित् धिचारवान् पुरुषः स्वार्थमिव परार्थमपि अर्थात् परस्य=स्वमित्रादेः अर्थमपि संपादयति, तथैव प्रकृतिरपि परस्य पुरुषस्यार्थनिःस्वार्थभावेन संपादयति ॥ ५६ ॥

हिन्दी—महत्त्व से लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त यह २३ तत्त्वों वाली समस्त पूर्वोक्त सृष्टि एकमात्र प्रकृति के द्वारा ही रची गयी है, न ईश्वर से, न ब्रह्म से

१. मध्ये प्रत्येक चेतनपुरुषस्य विमोक्षार्थमित्यनुपपन्नान्वयः ।

२. स्वार्थं इव न च प्रकृतेः कश्चित्स्वार्थः तस्या जडतया स्वार्थभावात्, एवं च स्वार्थं इवेति दृष्टान्तः, तथा च यथा चेतना कान्ता 'अहं पुरुषेण भोग्या भवामीति' स्वकर्मभोगरूपे स्वार्थं प्रवर्तते तथा नेयं, किन्तु प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थ एव प्रवर्तते प्रकृतिः, तथा च प्रथमं भोगं प्रदाय पश्चात् परार्थं मोक्षमपि दास्यतीति भोगार्थमपवर्ग्यं चास्थाः परार्थ एव आरम्भ इत्यर्थः । एतद-भिप्रायेणैवाह अर्थ इत्यदिना ।

अथवा न स्वभाव से ही । ईश्वर अशरीरी होने से, निर्व्यापार होने से सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है । ब्रह्मा भी जगत् का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह अपरिणामी है । और यदि बिना कारण का ही अथवा स्वाभाविक ही जगत् को माना जाय तब या तो सर्वदा सत्तावान् यह जगत् हो जाय अथवा सत्ता के अभाववाला ही हो जाय ।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रकृति इस चराचर विश्व की रचना ही क्यों करती है, इसका उत्तर दिया गया कि—“प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्” अर्थात् प्रत्येक पुरुष को समाज के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कराने के लिये प्रकृति इस सृष्टि की रचना करती है ।

फिर प्रश्न यह होता है कि यदि प्रकृति पुरुष को सांसारिक बन्धन से छुड़ाने के लिये ही सृष्टि की रचना करती है तब भी तो वह पुरुष को बन्धन से छुटकारा नहीं दिला सकती क्योंकि प्रकृति निस्पृह तथा प्रवृत्तिशील है, वह अपने सृष्टिकार्य से कभी भी उपरत नहीं हो सकती है, छुटकारा कुछ काल के लिये होने पर भी फिर बन्धनग्रस्त होना ही होगा ।

इसका भी उत्तर दिया कि जिस प्रकार ओदनपाक की इच्छा वाला पुरुष ओदनपाक के मिद्ध हो जाने पर उसमें निवृत्त हो जाता है, फिर पके हुए को नहीं पकाता, इसी प्रकार सब पुरुषों को सांसारिकबन्धन से छुड़ाने के लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति भी जिस पुरुष को मुक्त कर देती है उसे फिर बन्धन में नहीं डालती है ।

और यह प्रकृति का आरम्भ जो पुरुष के भोगापवर्गार्थ होता है वह स्वार्थ के समान ही परार्थ भी है । कारण प्रकृति को किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं है ॥ ५६ ॥

बिना किसी चेतन की सहायता के प्रकृति कैसे सृष्टि कर सकती है क्योंकि वह तो स्वयं जड है । यदि कहो कि चेतन जीव की सहायता से प्रकृति सृष्टि कर सकती है तो यह कहना भी व्यर्थ है—क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, अतः सर्वज्ञ ईश्वर को ही प्रकृति का महायक मानना होगा, इससे ईश्वर का अङ्गीकार आवश्यक है—इस शका का उत्तर देने हैं—

वत्सविवृद्धिनिमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

गौ०—‘अत्रोच्यतेऽचेतन प्रधानं चेतनः पुरुष इति’ यथा विषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्तव्य इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ? सत्यं, किन्त्वचेतनानानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा निवृत्तिश्च यस्मादित्याह—यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्सं निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम् इति अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति

अन्वयः—यथा, वत्सविवृद्धिनिमित्तम्, अज्ञस्य, क्षीरस्य, प्रवृत्तिः, तथा, पुरुषविमोक्षनिमित्तम्, प्रधानस्य, प्रवृत्तिः, (भवति) ॥ ५७ ॥

व्याख्या—यथा । वत्सविवृद्धिनिमित्तम्—वत्सस्य पुष्ट्यर्थम् । अज्ञस्य—अज्ञस्य । क्षीरस्य—दुग्धस्य । प्रवृत्तिः । (भवति) तथा । पुरुषविमोक्षनिमित्तम्—पुरुषस्य विमोक्षार्थम् । प्रधानस्य—प्रकृतेः । प्रवृत्तिः । भवति ।

हिन्दी—जिस प्रकार गौ के स्तन से उसके बछड़े के जीवननिमित्त अथवा पुष्टिनिमित्त दूध स्वयं निपलने लगता है, उसी प्रकार अहं प्रकृति भी स्वयं ही अर्थात् किसी चेतन से निरपेक्ष होकर ही पुरुषों को सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने के लिये प्रवृत्तिशील बनती है ।

यदि यह कहा जाय कि वत्स की पुष्टि के निमित्त दूध की क्षरणार्त्मिका प्रवृत्ति जैसे ईश्वर की प्रेरणा से होती है, वैसे ही प्रकृति भी सृष्टिकार्य को ईश्वर की प्रेरणा से ही करती है ।

इसका उत्तर साख्य ने यही दिया कि चेतन की प्रवृत्ति सर्वत्र या तो स्वार्थ से होती है, या करुणा, परोपकार की दृष्टि से ईश्वर का सृष्टि करने में न तो स्वार्थ ही है क्योंकि यह पूर्णकाम है । न उसे करुणाभाव ही है, क्योंकि यह तो दुःखी के प्रति होता है, जीव की दुःख शरीर-इन्द्रिय आदि के रहने पर

१. आक्षिपति अत्रोच्यते इत्यादिना । अचेतनायाः कथं प्रवृत्तिरित्याक्षेपा-
शयः । समाधत्ते सत्यमित्यादिना । क्षीरादीनामचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टाद-
चेतनप्रकृतेः प्रवृत्त्यङ्गीकारे न कश्चिद्दोष इति समाधानमिष्टायः । ननु क्षीर-
प्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनतया प्रवृत्तेरचेतननियतत्वमव्याहृतमेवेति दृष्टा-
न्तासिद्धिरिति चेन्न । सांख्यमते ईश्वरसत्त्वे प्रमाणाभावात्, तत्सत्त्वेऽप्यास-
कामत्प्रेषस्य प्रयोजनं विना प्रवर्तकत्वायोगात् । न च कारुण्यादिति वाच्यम् ।
सर्गात्प्राक् जीवानां दुःखित्वामम्भवेन तन्निवृत्तीच्छारूपकारुण्यस्यापि तत्रा-
सम्भवासत्त्मात्स्वयमज्ञापि परप्रयोजनेनैव क्षीरादिवत् प्रवर्तते प्रकृतिरिति
सुस्थिरम् ।

ही होता है, सृष्टि के पूर्व में जीव को न शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं जिनसे दुःख हो, और न विषय ही है जिन्हें देखकर दुःख हो । न परोपकार ही सम्भावित है क्योंकि सृष्टि के पूर्व कोई 'पर' ही नहीं है जिसके प्रति वह उपकार बुद्धि करे । अतः ईश्वर के अङ्गीकार की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—प्रकृति को क्या आवश्यकता है परार्थ सृष्टि करने की ?

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

गी०—'किञ्च—यथा लोकं इष्टौत्सुक्ये मति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते गमनागमनक्रियामु कृत्तकार्यो निवर्तते, तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिविषयोपभोगोपलब्धिलक्षण गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षण च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा प्रधानं निवर्तते ॥ ५८ ॥

अन्वय—यथा, लोक, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्, क्रियासु, प्रवर्तते, तद्वत्, अव्यक्तम्, पुरुषस्य, विमोक्षार्थम्, प्रवर्तते ।

व्याख्या—यथा लोकः । औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्—औत्सुक्यम्=इच्छा, तन्निवृत्त्यर्थम्=तच्छान्त्यर्थम् । क्रियासु=स्वस्वव्यापारेषु । प्रवर्तते । तद्वत्=तथैव । अव्यक्तम्=प्रकृति । पुरुषस्य । विमोक्षार्थम्=मुक्तये । प्रवर्तते=उभयविधा सृष्टिं करोति ॥ ५८ ॥

हिन्दी—समस्त के लोग अपनी उन उन वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा को पूरा करने के लिये जैसे अपने क्रियात्मक व्यापार में संलग्न रहते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को इस सामारिक बन्धन से छुड़ाने के लिये अर्थात् पुरुष को मोक्षप्रदान करने के लिये सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होती है ॥ ५८ ॥

प्रश्न—माना कि प्रकृति की सृष्टिकार्य करने में प्रवृत्ति पुरुष के भोगोपवर्गाथ ही होती है परन्तु उससे निवृत्ति कैसे होगी ?

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाशय विनिवर्तते प्रकृति ॥५९॥

१ ननु प्रयोजनोद्देशेनैव प्रवृत्तिर्दृष्टा न चाभ्यास्तदस्तीत्यत्राह औत्सुक्येति । स्वार्थं इवेति यद्दृष्टान्तित तद्विषयते इति मिथ्या ।

२ औत्सुक्यमिच्छाविशेषस्य चेत्यमाणप्राप्ती निवर्तते इष्यमाणश्च स्वार्थं, इष्टलक्षणस्वात्फलस्येति भावः ।

गी०—“किञ्चान्यत्—यथा नर्तकी शृङ्गारादिरसं रतिहातादिभावंश्च निवृद्ध-
गीतवादिप्रवृत्त्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्त्तते, तथा प्रकृति-
रपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाशय” वृद्धयहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन,
निवृत्तंते ।

अन्वयः—यथा, नर्तकी, रङ्गस्य, (आत्मानम्) दर्शयित्वा, निवर्त्तते तथा
प्रकृतिः, पुरुषस्य, आत्मानम्, प्रकाशय, विनिवर्त्तते ।

व्याख्या—यथा । नर्तकी=नृत्यकारिणी काचिद् देश्या । रङ्गस्य=रङ्गस्थाम्
पुरुषान्, [अत्र कर्मणि पठ्यो] (आत्मानम्) दर्शयित्वा । निवर्त्तते तथा ।
प्रकृतिरपि पुरुषस्य=पुरुषम्, [अत्रापि कर्मणि पठ्यो] आत्मानम्=आत्मस्वरूपम् ।
प्रकाशय=प्रदश्ये । विनिवर्त्तते ।

अयमाशयः—शृङ्गारादिरसैः समन्विता नानाविधालङ्कारभूषिता विविध-
लीलाविलासशोभिता काचित् नर्तकी यथा नृत्यगीतादिभिरात्मनः स्वरूपं दर्शक-
जनेभ्यः प्रदर्श्य कृतार्थां सती नृत्यात् निवर्त्तते तथैव प्रकृतिरपि पुरुषस्य स्वीयं
तत्त्वज्ञानसमन्वितं वास्तविकं स्वरूपं प्रदर्श्य कृतार्थां सती सृष्टिकार्याभिवृत्ता
भवति ॥ ५९ ॥

हिन्दी—जिस प्रकार कोई नर्तकी महफिल में बैठे हुए लोगों के समक्ष
अपने हाव-भाव-लीला-विलास एवं शृंगारादि रसों से समन्वित नाच-गान
आदि का प्रदर्शन करके तंया महफिल में बैठे हुए लोगों की “बाह-बाह”
आदि आवाजों से अपने को कृतकृत्य समझ कर उस नृत्यकार्य से निवृत्त हो
जाती है वसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपने वास्तविक एवं तत्त्वज्ञानसमन्वित
मोक्षप्रद स्वरूप का प्रदर्शन कर अपने को कृतकृत्य समझ कर सृष्टि कार्य से
निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

प्रश्न—माना कि प्रकृति पुरुष के भोगावसर्ग के लिये ही सृष्टि करती है,
इसी बात को ईश्वरकृष्ण ने भी “परार्थ आरम्भः” कहकर सुद्ध किया, परन्तु

१. ननु भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिनिवृत्तिस्तु कथम् ? तथा च पुरुषस्यानिर्मोक्ष
एव स्यादत आह—रङ्गस्येति ।

२. मञ्जाः क्रोशन्तीतिवत् स्थानिलक्षणया सभ्यादेरित्यर्थः ।

३. केन रूपेण प्रकाशयति प्रकृतिरित्यत आह—बुद्धीति । इदमुपलक्षम्—
पुरुषाद्भेदेन च प्रकाशय निवर्त्तत इति ।

८ सां०

यह बात दिमाग में झमलिय नहीं बैठती कि जब पुरुष स्वयं प्रकृति से उपकृत होता है तब क्या प्रकृति पुरुष से प्रत्युपकृत नहीं होगी ?

नानाविधैरुपायेरुपकारिष्यनुपकारिणः पुंसः ।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

गी०—कथं को वाञ्छा निवर्तको हेतु । तदाह—^१नानाविधैरुपायै प्रकृति पुरुषस्योपकारिष्यनुपकारिण पुंसः । कथम् ? देवमानुषतियभावेन सुखदुःखमोहात्मकभारतन दण्डादिविषयभावेन, एव नानाविधैरुपायैर्गत्मान प्रसादयाहमया रमय इति निवर्तने अतो नित्यस्य तस्यार्थमपार्थकं चरति कुस्ते^२ यथा कश्चित् परोक्षकारी सर्वस्यापकुस्ते नारमन प्रत्युपकारमीदृते, एव प्रकृति पुरुषार्थं चरति कर्गेत्यपार्थकम् । पश्चादुक्तमात्मान प्रकाश्य निवर्तते ॥ ६० ॥

अन्वय —(प्रकृति) अनुपकारिण , पुम , नानाविधै उपायै , उपकारिणी (भवति) गुणवती, अगुणस्य, सत तस्य, अर्थम्, अपार्थकम्, चरति ।

व्याख्या—प्रकृति । अनुपकारिण = प्रत्युपकारविहीनस्य । पुम = पुरुषस्य । नानाविधै । उपायै । उपकारिणी = भोगापवगमम्पादनेन उपकारकर्त्री । भवति । गुणवती = तत्त्व रजस्तमसोरूपगुणवती । अगुणस्य = निगुणस्य । मन स्वरूपमात्रेण वनमानस्य । तस्य = पुरुषस्य । अर्थम् = भोगापवगरूपम् । अपार्थकम् = स्थायम् । चरति = प्रत्युपकार विनैव सम्पादयति ।

हिन्दी—गुणवती तथा उपकारिणी प्रकृति प्रत्युपकारविहीन एव स्वरूपमान में स्वस्थितिसम्पन्न निर्गुण उस पुरुष के भोगापवगरूप अथ को महत्स्व भाति साधनी के द्वारा नि स्वार्थरूप में ही सम्पन्न करती रहती है ॥ ६० ॥

प्रश्ने—जस नतकी दशको के समक्ष अपना नाचना-गाना आदि दिवाने के बाद फिर भी दशको की इच्छा हाने पर अपना नृत्य प्रारम्भ कर देती है वैसे ही प्रकृति भी एक बार पुरुष को भोगापवगं कराने के पश्चात् फिर भोगापवगं

१ ननु परार्थं प्रत्युपकारसम्बन्धेन प्रवर्तितवते, नहि पुरुषात्प्रत्युपकार प्रकृतेरत आह—नानाविधैरित्यन्ये ।

२ यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽन एवानुपकारिणि स्वामिनि निष्कनाराधन एवमियमप्रकृतिरपि तपस्विनी गुणवत्युपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति मिथ्या ।

कराना प्रारम्भ कर दे ? तब तो पुरुष के भोगापगंनिबन्धन सृष्टिक्रम हमेशा ही चलता रहेगा ?

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।

या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

गौ०—निवृत्ता च किं करोतीत्याह—लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एव मतिरुत्पन्ना, कस्मात् ? अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः ।

तत्र सुकुमारतरं वर्णयति । केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥

अपरे स्वभावकारणिका ब्रुवते—

केन शुक्लीकृता हंसा मयूरा केन चित्रिताः । स्वभावेनैव—इति ।

अत्र सांख्य्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादोश्वरस्य कथं सगुणः प्रजा

१. स्यादेतद् नर्तकी नृत्यं सम्प्रेष्यो दर्शयित्वा घनप्राप्त्या निवृत्तापि पुनः कुतूहलाद् यथा प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषमात्मानं दर्शयित्वा विवेकेन निवृत्तापि पुनः प्रवर्तयन्ते इत्यत आह—प्रकृतेरिति मिथ्यादयः ।

२. सुखदुःखमोहात्मकभोग्यविषयम् अन्यत् ईश्वरस्वभावकालादिकं लोके नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—येनेति । प्रकृतेः परार्थमतो हेतुं प्रश्नपूर्वकमाहाहमनेनेति ।

३. प्रकृताद्येवोक्तविधं सुकुमारतरत्वं प्रदर्शयितुमन्यत्र तन्निषेधार्थं मतान्तराणि निरूपयन्तीत्यर्थः । अज्ञ इति । स्वसुखदुःखभोगयोरसमर्थोऽयं जीव ईश्वरप्रेरणयैव स्वर्गनरकसुखदुःखादि भुङ्क्तेऽत ईश्वरः कारणमितीश्वरकारणतामाह एकः ।

४. निषेध्यं मतान्तरमाह—अपर इति । हंसादीनां स्वभावतः शुक्लानां शुक्लत्वं स्वभावतश्चित्राणां मयूराणां चित्रत्वं च स्वभावेनैवातः स्वभावत एवास्य जगत् उत्पत्तिरिति स्वभावकारणतावादोपरः ।

५. मतद्वयं निषेद्धुं सांख्याचार्यमतमाहाश्रयेति । सगुणतः—सुखदुःखादिगुणवत्यः । ईश्वरकाण्यतावादं निरस्य जीवकारणतावादमपि प्रसङ्गाति-

जायेरन् ? कथं वा पुरुषाभिर्गुणादेव, तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते, यथा शुक्लेभ्यस्त-
न्तुभ्य शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्य कृष्ण एव—इति, एव त्रिगुणात्
प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणा समुत्पन्ना इति गम्यते, 'निर्गुण ईश्वर,
सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरुच्यते' । अनेन पुरुषो व्याख्यातः । 'तथा
केचिच्चित् काल कारणमिति । उक्तं च—

‘कालं पचति भूतानि कालं सहर्तते जगत् ।

‘कालं सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥’

व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रय पदार्थाः, तेन कालोऽतर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्त
सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः, तस्मात्
कालो न कारणम् नापि स्वभाव इति । 'तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृते
कारणान्तरमस्तीति न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य, अतः प्रकृते सुकुमारतर
सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति । तथा च लोके
खड्गम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—प्रकृते, सुकुमारतरं, न, किञ्चित्, अस्ति, इति, मे, मतिः,
भवति, या, दृष्टा, अस्मि, इति, पुनः, पुरुषस्य, दर्शनं, न, उपैति ।

व्याख्या—प्रकृते = प्रकृत्यपेक्षया । सुकुमारतरम् = अतिलज्जाशीलम्,
पुरुषान्तरदर्शनानपेक्षि इत्यर्थः । न । किञ्चित् । अस्ति । इति । मे = ईश्वरकृष्णस्य ।
मतिः = निश्चयः । भवति = वर्तते । या = प्रकृतिः । दृष्टा = पुरुषान्तरेण अहं
दृष्टा । अस्मि । इति = एव ज्ञात्वा । पुनः । पुरुषस्य । दर्शनम् । न । उपैति ।

रस्यति कथं वेति । निर्गुणाज्जीवात्कथं सगुणकार्यजातमुत्पद्येतेत्यर्थः । प्रकृति-
कारणतावादमुपसहरति, तस्मादिति । सगुणकारणात्सगुणकार्योत्पत्तौ दृष्टान्त-
प्रदर्शनेन प्रकृतिकारणतावादं द्रव्ययति—यथेति ।

१ प्रकृतिकारणतावादसंस्थाप्येश्वरात्मकारणतावादनिराकरणमुपसहरति—
निर्गुण इति ।

२ किञ्चिदङ्गीकृते जगद्धेतौ कालेऽपि प्रकृतिवत्सुकुमारतरत्वं न सम्भवतीति
प्रदर्शयितुं कालकारणतावादमतं निरूपयति—तथेति । स्वभाववद् कालस्यापि
व्यक्ततया तद्धेतुप्रधानकारणतावादेनैव तयोः कारणत्वविरस्तमिति भावः ।
तेन तत्र, कथमन्तर्भाव इत्याह—स हीति ।

३ प्रकृतिहेतुतावादमुपसहरति तस्मादिति ।

अयं भावः—असूर्यम्यस्या हि कुलवधूः अत्यन्तं लज्जावती अत एव मन्द-
गामिनी अनवधानतया विमलितशिरोऽञ्जला निरीक्ष्यते चेत् पुरुषान्तरेण तदा
इयम् एवं यतते यत् पुनर्मां परपुरुषो न पश्येत्, प्रकृतिस्तु कुलवधूतोऽप्याधिकाऽ-
तिमन्दाक्षमन्थरा अतः पुनः कदापि परपुरुषस्य दृष्टिगोचरतां नायात्येव ।

हिन्दी—जिस प्रकार कोई अत्यन्त लज्जाशील कुलाङ्गना के मस्तक के
ऊपर का घूँघट असावधानी के कारण जब हट जाता है और परपुरुष उसे
देख लेता है तथा परपुरुष के देखने का ज्ञान उसे यदि हो जाता है तो फिर
वह ऐसी लज्जा से नतानन होकर वहाँ से हटती है कि फिर परपुरुष के समक्ष
नहीं आती है, इसी प्रकार कुलाङ्गना से अधिक लज्जाशील प्रकृति को पुरुष
के द्वारा अपने देख लेने का ज्ञान जिस क्षण हो जाता है उसी क्षण से वह
फिर कभी भी पुरुष के समक्ष नहीं आती, न आने से ही पुरुष का भोगावर्ग
तथा तन्निमित्तक सृष्टिक्रम दोनों ही बन्द हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

प्रश्न—जबकि सांख्य पुरुष निर्गुण और निर्विकार है तब पुरुष का मोक्ष
कैसे हो सकता है, क्योंकि मोक्षशब्दार्थ है बन्धन से छुटकारा पाना, सो बन्धन
के कारणीभूत वासना-श्लेष-कर्म आदि धर्म जबकि अपरिणामी पुरुष में संभव
ही नहीं है तब उसे बन्धन कैसा ? और बन्धन के न होने से फिर मोक्ष भी
कैसा ? तब फिर ५८ वीं कारिका में “पुरुषस्य विमोक्षार्थम्” अर्थात् पुरुष
के मोक्ष के लिये ही सृष्टि होती है यह कथन सर्वथा व्यर्थ है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्वा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

गौ०—‘पुरुषो मुक्तः पुरुषः संसारी’ इति चोदिते आह—तस्मात् कारणात्
पुरुषो न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति, यस्माद् कारणात् प्रकृतिरेव
नानाश्रया दैवभानुपतिर्यम्योन्याश्रया बुद्धधहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते
मुच्यते संसरति चेति । २‘अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति ?’

१. ननु पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य सुखदुःखादिरूपो बन्धः, अतो
न मोक्षोऽपि तस्य बन्धेन सामानाधिकरण्यात् तस्मात्पुरुषविमोक्षार्थमिति रित्तं
वचः, इतीमामाशङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन्नपाकरोति तस्मादित्यन्ये ।

२. यदि स्वभावतो मुक्त एव पुरुषस्तदा सर्वगतस्य तस्य कथं संसार
इत्याशयेनाक्षिपति—अथेति । समाधत्ते—अप्राप्तेति । निःसङ्गत्वेन अप्राप्तस्य

अप्राप्तप्रापणायं ससरणमिति, तेन पुरुषो बध्यते पुरुषो मुच्यते पुरुष ससरतीति व्यपदिश्यते येन ससारित्वं विद्यते, सत्त्वपुरुषान्तरात्मानात् तत्त्व पुरुषस्याभिव्य-
ज्यते, तदभिव्यक्तौ केवलं शुद्धं मुक्तं स्वरूपप्रतिष्ठं पुरुष इति । 'अत्र यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति ततो मोक्षोऽपि नास्ति' । अत्रोच्यते—प्रकृतिरेयात्मानं बध्नाति मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तस्मात्प्रकृतिविधकारणोपेतं त्रिविधेन बन्धेन बध्यते, उक्तं च—

‘प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेन च ।

शाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ॥’

तत् सूक्ष्म शरीरं धर्माधर्मसंयुक्तम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तस्मात्, अद्धा, कश्चित्, (पुरुष), न ससरति, न बध्यते प्रकृतिरेव, नानाश्रया सती, ससरति, बध्यते, मुच्यते (च) ।

व्याख्या—तस्मात्=पुरुषस्य निर्गुणत्वात्—निर्धर्मकरत्वाच्च । अद्धा=निश्चयेन कश्चित्=कोऽपि पुरुष । न ससरति=न जन्ममरणवान् भवति, अर्थात् न जायते नापि म्रियते इत्यर्थः । न बध्यते=न बन्धनवान् भवति । न मुच्यते । किन्तु) प्रकृतिरेव । नानाश्रया सती=भोग्य-भोग-तत्त्वाधन-तदायतनरूपं अनेकं आश्रया सती । ससरति । बध्यते । मुच्यते च ।

शब्दाद्युपभोगस्य प्राप्तये बुध्यादिभेदाग्रहात् तदगतससरणमारमणिं प्रतीयते, भेदप्रतीती च पुरुषगतिनि सङ्गत्वादप्रतीत्या स स्वतो न बद्धो न मुक्त इत्यादि-
पुरुषस्वरूपाभिव्यक्त्या स्वरूपप्रतिष्ठासाधन इति समाधानार्थः ।

१ पुनः शङ्कते अत्रेति । यदि न पुरुषस्य बन्धः ससारपरपर्यायस्तदा-
ऽऽत्मा मुक्त इति व्यवहारः कथं तस्मात्, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वादिति शङ्काकर्तुं-
रभिप्रायः । समाधत्ते अत्रोच्यते इति । असङ्गोऽप्यात्मा प्रकृतिमसर्गादेवाभेदा-
ग्रहमूलकं बन्धमात्मन्यारोपयति मुक्तिं च, यथा जयपराजयो भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्यते तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्तत्फलस्य च शोकलामादे-
ऽनुमितिः सम्भवात्, तथा च प्रकृतिगतयोरपि भोगापवर्गयोर्विवेकाग्रहात्पुरुष-
सम्बन्धसम्भवात् मुक्त आत्मेत्यादिव्यवहारोपपत्तिरिति समाधानार्थः प्रकृति-
सङ्गात् कुत्रोत्तमाऽऽत्मानं बध्नाति मोचयति चेत्पत्राह—यत्रेति । योनिविशेषे-
इत्यर्थः, त्रिविधकरणोपेतं—महदाद्याभ्यन्तरत्रिविधकरणसहितम्, तत् धर्माधर्म-
संयुक्तं सूक्ष्मशरीरम्, बध्यते—तत्र प्रकृत्यादिसमादारमणिं बन्धादिव्यवहार-
इत्यभिप्रायः । त्रिविधबन्धमाह—प्राकृतेनेति ।

अयमाशयः—यथा युद्धपरायणसैनिकानां जयपराजयौ तेषां स्वामिनि राज्ञि उपचर्येते यत् “अमुकस्य राज्ञो जयो जातः” “अमुकस्य च पराजयः” इत्याधिरूपेण । एवमेव भोगापवर्गयोः परमार्थतः प्रकृतावेव सत्त्वेन प्रकृति-पुरुषयोरभेदज्ञाननिबन्धनौ तौ, पुरुषे तूपचर्येते, पुरुषो बद्धः—पुरुषो मुक्तः—पुरुषः संसरति इत्यादिरूपेण, अतः “पुरुषस्य—विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्” इत्युक्तं वचः सर्वथा समीचीनमेव ॥ ६२ ॥

हिन्दी—पुरुष निर्गुण और निर्धर्मक है इसलिये यह निश्चय है कि कोई भी पुरुष न बन्धनग्रस्त होता है, न मुक्त ही होता है और न वह सांसारो ही बनता है । जन्ममरणरूपसंसार अर्थात् बन्धन और मोक्ष ये सब धर्म वास्तविक रूप में भोग्यभोग भोगसाधन भोगायतनभूत अनेक पदार्थों की आश्रयस्वरूप प्रकृति के ही हैं, पुरुष में तो उनका एकमात्र उपचार ही होता है । जैसे युद्ध में वास्तव में जयपराजय सैनिकों की है राजा में तो उसका केवल आरोपमात्र ही है ॥ ६२ ॥

प्रश्न—प्रकृति किन-किन साधनों के द्वारा पुरुष को बन्धन में डालती है और किन साधनों के आधार पर बन्धन से मुक्त करती है ?

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्मानमात्मना प्रकृतिः ।

सैव च पुरुषार्थम्प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

श्री०—‘प्रकृतिश्च बध्यते प्रकृतिश्च मुच्यते संसरतीति’ कथम्’ तदुच्यते—
रूपैः सप्तभिरेव, एतानि सप्त प्रोच्यन्ते—धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्, एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि, तैरात्मानं स्वं बध्नाति प्रकृतिः, आत्मना स्वेनैव सैव प्रकृतिः, पुरुषस्मार्थः पुरुषार्थः^२ कर्तव्य इति विमोचयत्मात्मानमेकरूपेण ज्ञानेन ॥ ६३ ॥

१. किसाधना प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्ग इति प्रश्नार्थः ।

२. भोगापवर्गरूपः । एकरूपेणेति । तथा च भोगरूपपुरुषार्थं प्रति धर्मादिसप्तविधरूपैरात्मानं बध्नाति, स्वरूपावस्थानरूपापवर्गं प्रति चैकेन केवलेन ज्ञानरूपभावनैवात्मानं संसारान्मोचयतीति भावः । एतेन वैराग्याद्यभावेऽपि ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमिति सूचितम्, विषयजिज्ञासारूपवैराग्यस्य विषयदोषदर्शनजन्यस्य भोगेष्वदीनतामात्रम्, तथा धीनिरोधरूपोपरमस्य च यमादिसाध्यस्य द्वैतादर्शनमात्रं फलं न मोक्षः ‘तमेव विदित्वे’त्यादिश्रुतिपु तस्य ज्ञानैकलभ्यत्ववर्णनादिति तात्पर्यम् ।

अन्वय — प्रकृति, पुरुषार्थं प्रति, आत्मना, सप्तभिरेव, रूपं आत्मानम् बध्नाति, सैव, च, एकरूपेण, आत्मानम्, विमोचयति ।

व्याख्या—प्रकृति । पुरुषार्थं प्रति=भोगापवर्गरूपपुरुषार्थं प्रति । आत्मना=स्वयमेव । सप्तभिः । रूपं=धर्माधर्माज्ञान-वैराग्यावैराग्यैश्वर्यनिश्चयं आत्मानम्=स्वाम् । बध्नाति । सैव च=प्रकृतिरेव च । एकरूपेण=तज्ज्ञानात्मकेन एकरूपेण । आत्मानम् । विमोचयति ॥ ६३ ॥

हिन्दी—बहु प्रकृति पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ को सम्पन्न करने के लिये स्वयं ही धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य इन सात प्रकार के भावात्मकरूपों के द्वारा अपने को बन्धन में डालती है । और वही प्रकृति ज्ञानात्मक भावभूत एकरूप के द्वारा अपने को स्वयं सासारिक बन्धन से छुड़ा लेती है, अर्थात् फिर उसी पुरुष के लिये भोगापवर्ग का सम्पादन नहीं करती है ॥ ६३ ॥

प्रश्न—यह तत्त्वज्ञान कैसे होता है ?

एव तत्त्वाम्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

गौ०—'कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ?—एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वलोचनाभ्यासादियं प्रकृतिरियं पुरुष एतानि पञ्चनन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते, नास्मि नाहमेव भवामि, 'न मे मम शरीरं तत् यतोऽहमग्न्य शरीरमयत्, 'नाहमिति अपरिशेषम्, अहङ्काररहितम् अविपर्ययाद्विशुद्ध 'विपर्यय

१ कर्तृत्वादिविशिष्ट बुद्ध्यादिकमहं न भवामीत्यर्थं, अनेनात्मनि आरोपित कर्तृत्वं विशुद्धज्ञानोत्पत्तौ निवर्तते इति सूचितम् । कर्तृत्वाभावे च स्वामित्वमपि निवर्तत इत्याशयेनाह—न मे इति । कर्ता हि स्वामित्वं लभेत तस्मात्स्वाभाविकी स्वामिता कुत इति मिथ्या । अभेदज्ञानपर्यन्त मे मम शरीरमिति ग्रहात्स्वामित्वप्रतीतिर्भेदज्ञाने सा निवर्तत इति गौडपादाशयः ।

२ आत्मनि अध्यवसायादिसर्वव्यापारनिषेधाच्च कर्तृत्वाभाव इत्याह—नाहमिति मिथ्या । अहङ्कारभेदग्रहविशिष्टमिति गौडपादाभिप्रायः । अपरिशेषपरमम् इत्यन्ये ।

३ सशयविपर्ययो ज्ञानस्याविशुद्धी तद्रहित विशुद्धमिति मिथ्या । व्यधिकरणप्रकाराभावाद्विशुद्ध प्रमात्मक मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनक्षममिति चन्द्रिकाकारः ।

संशयोऽविपर्ययाद्विशुद्धं केवलं तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ॥ ६४ ॥

अन्वयः—एवम्, तत्त्वाभ्यासात्, नाऽस्मि, नाहम्, न मे, इति, अपरिशेषम्, अविपर्ययात्, विशुद्धम्, केवलम्, उत्पद्यते ।

व्याख्या—एवम्=पूर्वोक्तरीत्या । तत्त्वाभ्यासात्=पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वाभ्यासात् । नास्मि=अहमात्मा न व्यापारकम् किन्तु इन्द्रियादय एव व्यापारवन्तः । नाहम्=अहं न कर्ता, नाहम् भोक्ता इत्यादिरूपेण अहंप्रत्ययाभिमानशून्यः । न मे=स्वस्मिन् स्वामित्वभावशून्यः, (अर्थात् संसार के अन्दर मेरा कुछ नहीं है) । इति=व्यापारकर्तृत्व-स्वामित्व-आदिधर्मशून्योऽहम् इत्याकारकम् । अपरिशेषम्=यत्र किमपि अज्ञातं नावशिष्येत् एवंविधम् । अविपर्ययात्=संशय-विपर्यय-विकल्पात्मकज्ञानशून्यत्वात् । विशुद्धम्=सर्वथा परिणुद्धम् । केवलम्=प्रत्यात्मकम्, अथवा कैवल्यमपादकम् । ज्ञानम्=तत्त्वज्ञानम् । उत्पद्यते ॥ ६४ ॥

हिन्दी—इस प्रकार से २५ पदार्थतत्त्वों के ज्ञान का निरकालपर्यन्त अद्धाः पूर्वक निरन्तर अभ्यास करने से "मैं पुरुष (अत्मा) व्यापार वाला नहीं हूँ अपितु इन्द्रियाँ आवि ही व्यापारवाली हैं, और न मैं कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मवाला हूँ क्योंकि निधर्मक होने से, संसार के अन्दर मेरा कुछ नहीं है, यह मेरा है, मैं इसका मालिक हूँ इत्यादि स्वामित्वविपरिणी भावनाओं से मैं सर्वथा दूर हूँ" इस प्रकार का कैवल्यप्रयोजकीभूत तथा संशय-विपर्यय आदि से शून्य होने के कारण जिस ज्ञान के हो जाने के पश्चात् और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है वह विशुद्धतत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

प्रश्न—इस तत्त्वज्ञान से फिर क्या होता है ?

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥

गौ०—'ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?'—तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन पुरुषः प्रकृतिं पश्यति प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यमवस्थितः स्वस्थः यथा रज्जुप्रेक्षको-

१. पुरुषमात्रगोचरमिति नारायणतीर्थाः । विपर्ययासम्भिन्नमिति चाचस्पति-मिश्राः ।

२. किम्पुनरीदृशेन साक्षात्कारेण सिध्यतीत्याह—तेनेति मिश्राः ।

३. अवस्थितयो निष्क्रियः । स्वस्थ इत्यत्र स्वच्छ इति पाठो मिश्रमते, तस्य च रजस्तमोऽकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्न इत्यर्थस्तन्मते बोध्यः ।

स्वस्थितो नत्तंकीं पश्यति, स्वस्थ स्वस्मस्तिष्ठति स्वस्थ स्वस्थानस्थित । कथं
भूता प्रकृतिम् ? निवृत्तप्रसवा निवृत्तबुद्धयहङ्कारकार्याम्^१ अर्थवशात् सप्तम-
रूपविनिवृत्ता, निवृत्तपुरुषोभयप्रयोजनवशाद् 'ये' सप्तमी रूपधर्मादिभिरा-
त्मान बध्नानि तेभ्य सप्तम्यो रूपेभ्यो विनिवृत्ता प्रकृतिं पश्यति ॥ ६५ ॥

अन्वय — तेन, स्वच्छ, प्रेक्षकवत्, अवस्थित, पुरुष, अर्थवशात्, सप्त-
रूपविनिवृत्ताम्, निवृत्तप्रसवाम्, प्रकृतिम्, पश्यति ।

— व्याख्या—तेन=पूर्वोक्तेन विशुद्धेन तत्त्वज्ञानेन । स्वच्छ = विशुद्धतत्त्व-
प्रधान, निमल इत्यर्थः । प्रेक्षकवत्=उदासीनवत्^१ । अवस्थित=सर्वधानिष्ठिय ।
पुरुष । अर्थवशात्=विवेकव्याप्तिरूपप्रयोजनवशात् । सप्तरूपविनिवृत्ताम्=
धर्माधर्मानानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानिश्वर्यात्मकतत्त्वभावभूतरूपरहिताम् । निवृत्त-
प्रसवाम्=भोगापवगरूपप्रसवशून्या प्रकृतिम् । पश्यति ॥ ६५ ॥

हिन्दी—पूर्वोक्त विशुद्धतत्त्वज्ञान के प्रभाव में निर्मल एवं निष्क्रिय वह
चेतन पुरुष रजोगुण एवं तमोगुण की वृत्तियों से सर्वथा शून्य होकर उदासीन-
पुरुष के समान स्वस्थितिसंपन्न एवं भोगापवगरूपकार्य से नितान्त शून्य होता
हूँ। विवेकज्ञानरूपप्रयोजनवश धर्म, अशर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य,
अनैश्वर्यरूप इन सात भावभूतपदार्थों से रहित प्रकृति को एकमात्र देखता
रहता है ॥ ६५ ॥

शङ्का—जब कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि और वियोग से
मुक्ति होती है तब फिर प्रकृति को निवृत्तप्रसवा कैसे कहा जा सकता है क्योंकि
प्रकृति पुरुष का संयोग ही तो भोगापवगरूपप्रसव का कारण है और वह संयोग
नित्य होने के ताते हमेशा मौजूद रहेगा अतः निवृत्तप्रसवा प्रकृति को पुरुष
देखता है यह पूर्वोक्त कथन सर्वथा मिथ्या है ।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

१ अहङ्कारकार्याणि भोगभेदसाक्षात्कारादयो निवृत्ता यस्यास्ताम् भोग-
विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृत्या प्रसूतव्यो तो च प्रभूताविति नास्या प्रसूतव्य-
'मवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिरिति भावः ।

गौ०— किञ्च—रङ्गस्य इति यथा रङ्गस्य इत्येवमुपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृत्ता एका एकैव प्रकृतिः त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति मूर्तिविधे, जातिभेदात्, एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति न तु संयोगात् कृपः सर्गो भवति, सति संयोगेऽपि तयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य चृष्टेः चरितार्थत्वाद् 'प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषययोर्लब्धिगुणपुष्पान्तरोपलब्धिश्च, उभयत्रापि चरितार्थत्वाद् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं यः पुनः सर्ग इति यथा दानग्रहणनिमित्तं, उत्तमार्थाधर्मणोर्द्रव्यविमुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धी भवति, एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति ॥ ६६ ॥

अन्वयः—एकः, मया, दृष्टा, इति, उपेक्षकः, अन्या, अहम्, दृष्टा, इति, उपरमति, तयोः संयोगे सत्यपि, सर्गस्य, प्रयोजनम्, नास्ति ।

व्याख्या—एकः = उत्पन्नविवेकज्ञानवान् चेतनः पुरुषः । मया = पुरुषेण । दृष्टा = सर्वाङ्गमुन्दरी प्रकृतिः चाक्षुषप्रत्यक्षविषयीकृता । इति = एवं विचारवान् पुरुषः । उपेक्षकः = प्रकृतेरुपेक्षां करोति । अन्या = प्रकृतिः । अहम् = प्रकृतिः । दृष्टा = निरान्तं सम्पन्ना भुक्ता । इति = इत्येवं विचारयन्ती । उपरमति = उपरामं करोति, सर्वथा व्यापारशून्या भवतीत्यर्थः । 'एवं च सति' तयोः =

१. ननु नित्ययोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं तस्याः प्रसवनिवृत्तिस्तत्राह दृष्टेति ।

२. रङ्गस्य इति पदं स्वयं व्याचष्टे यथेति । यथा रङ्गभूमिस्यः सम्यः नर्तकी दृष्ट्वा तद्दर्शनादुपरमते तथैक, पुरुषः स्वमित्रेयं स्वसम्पर्काद् बध्नातीत्येवंधृणा प्रकृतिर्मया दृष्टेत्युपेक्षको भवति तद्भोगाद्यावेतरहितो भवतीत्यर्थः । एवं प्रथमपार्श्वं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे—तेनाहमिति । गौडनादमते 'दृष्टाहमित्युपरमत्येके'ति पाठोऽत्र द्रष्टव्यः, अत एवाह—एकेति । न द्वितीयेत्यत्र हेतुमाह—मूर्तिवद् इति । प्रकृतेर्जात्या भेदस्वीकारे मूर्तिनाशस्य हेतुत्वात्तस्य च परिणामवादेऽसम्भवात् इति भावः ।

३. उत्तरार्धमवतारयति एवमिति । सति संयोगेऽपीत्यस्यार्थमाह—तयोरिति ।

४. नृदिचरितार्थत्वं निवृणोति—प्रकृतेरिति ।

५. पुनः प्रकृतिपुरुषयोः सृष्टिप्रयोजकसंसर्गाभावे दृष्टान्तमाह—यथेति ।

प्रकृतिपुरुषयो । सयोगे सत्यपि=सयोगात्मकसम्बन्धे वर्तमानेऽपि । सर्गस्य=पुन
सृष्टे, भोगापवर्गरूपप्रसवस्य वा । प्रयोजनम् । नास्ति ॥ ६६ ॥

हिन्दी—जिन चेतन पुरुष को विवेकज्ञान उत्पन्न हो चुका है वह चेतन
पुरुष में सर्वाङ्गसुन्दरी उस प्रकृति को अच्छी प्रकार देख चुका हूँ अब और क्या
देखना है ऐसा विचार करके उस प्रकृति की उपेक्षा कर देता है । इधर प्रकृति
को भी मैं पुरुष के द्वारा देखी जा चुकी हूँ ऐसा ज्ञान जब हो जाता है उसी समय
से वह अत्यन्त सुकुमारतर प्रकृति लज्जावश पुरुष के समक्ष नहीं आती है । इस
प्रकार प्रकृति पुरुष के सयोग के मौजूद रहने पर भी सृष्टि का अथवा भोगापवर्ग-
रूप प्रसव का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता है क्योंकि पुरुष भी प्रकृति की
देखभाल कर कृतकृत्य हो चुका है । इधर प्रकृति तो अत्यन्त लज्जाशील होने के
नाते इतने से ही उपराम की प्राप्त हो गयी कि मुझे पुरुष ने देख लिया ॥६६॥

प्रश्न—यदि तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने मात्र से ही पुरुष मुक्त हो जाय तो
उसके पश्चात् ही उसके स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का विनाश हो जाय ?
तब फिर अवेह पुरुष प्रकृति को कैसे देख पायेगा जैसा कि ६५वीं कारिका में
“प्रकृति पश्यति पुरुष ” कहा है । यदि यह कहा जाय कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर
भी प्रारब्धकर्मों के क्षीण न होने के नाते पुरुष मुक्त नहीं हो पाता है, तब यह प्रश्न
होना है कि प्रारब्धकर्मों का क्षय होता कैसे है ? यदि भोग से होता है तो आश्चर्य
की बात है कि “व्यक्त, अव्यक्त, ज इनके ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता
है” यह शास्त्रीय कथन ही मिथ्या हो जाता है । दूसरी बात यह है कि जिन
अमर्ष्य प्रारब्धकर्मों के पक्षोपभोग का काल अभी तक निश्चित ही नहीं है उनका
भोग से क्षय होगा और फिर मोक्ष यह कथन भी एक मनोरममात्र ही है ?

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्ते ।

तिष्ठति सस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥६७॥

गो०—‘यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति ततो मम कस्मान्न भवती’-
त्यत उच्यते ‘यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञान भवति तथापि सस्कारवशाद्धृतशरीरो

१ ननु ‘भिद्यते हृदयप्रन्थिरित्यादिभ्युत्था तत्त्वज्ञानानन्तरमेव मुक्तो सर्व-
कर्मक्षयेण देहाद्यभावमूचनात् कथं प्रकृतिदर्शनम् । ज्ञाने देहस्य कारणत्वात्तत्राह
सम्यगित्यपरः । ज्ञानस्य मोक्षे हेतुत्वप्रतिपादनाज्ज्ञानवतो मे मोक्ष कथं नेति
गोडपादावतरणाक्षयः ।

योगी तिष्ठति कथम् ? चक्रभ्रमवच्चक्रभ्रमेण तुल्यम्, यथा कुलालश्चक्रं धाम-
यित्वा घटं करोति, मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य पुनः कृत्वा घटं पर्यामुञ्चति चक्रं
भ्रमत्येव संस्कारवशात्, एवं सम्यग्ज्ञानाधिगमादुत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीना-
मकारणप्राप्तौ एतानि सप्त रूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि, यथा
नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न
समर्थानि ।^१ धर्मादीनामकारणप्राप्ती संस्कारवशादधृत्तशरीरस्तिष्ठति,^२ ज्ञानाद्वर्त्त-
मानधर्माधर्मक्षयः कस्मान्न भवति, वर्त्तमानत्वादेव, क्षणान्तरे क्षयमध्येति, ज्ञानं
त्वनागतं कर्म दहति, वर्त्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठान-
करणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते भोक्षः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सम्यग्ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम्, अकारणप्राप्ती, संस्कारवशात्,
चक्रभ्रमिवत्, धृतशरीरः सन्, तिष्ठति ।

व्याख्या—सम्यग्ज्ञानाधिगमात्—सम्यग्ज्ञानस्य = तत्त्वज्ञानस्य, अधि-
गमात् = प्राप्तेः । तत्त्वज्ञानप्राप्त्यनन्तरम् इत्यर्थः । धर्मादीनाम् = धर्माधर्माज्ञान-
वैराग्यावैराग्यैवपरिनिष्पर्याणाम् । अकारणप्राप्ती सत्याम् । संस्कारवशात् =
अदृष्टवशात् । चक्रभ्रमिवत् = दण्डेन आरब्धा या चक्रस्य भ्रमिः = भ्रमणरूपा
क्रिया, तद्वत् । दण्डनिवृत्तौ सत्यामपि वेगाख्यसंस्कारवशात् चक्रे यथा भ्रमणं
भवति तद्वत् इत्यर्थः । धृतशरीरः = शरीरं धारयन् सन्नित्यर्थः । तिष्ठति ॥ ६७ ॥

हिन्दी—तत्त्वज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान हो जाने के पश्चात् धर्माधर्म की
सुख-दुःख रूप फलोत्पादकरव शक्ति अर्थात् बीजभाव ही नष्ट हो जाता है,
जिससे कि धर्माधर्म तत्त्वज्ञानसम्पन्न जीवन्मुक्त पुरुष के लिये सुख-दुःख आदि
फल के कारण ही नहीं हो पाते हैं । अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष कर्म करते हुए भी
तादृशकर्म जन्म अदृष्ट जन्म जो सुख-दुःख आदि फल उनका भागी ही नहीं
बनता है । केवल साधकपुरुष अपने प्रारब्धकर्मों के फलोपभोगकाल पर्यन्त कुछ
बचे हुए संस्कारों के आधार पर एकमात्र शरीर को धारण किये रहता है जिस
प्रकार कुम्हार के दण्ड से एकबार चक्र को चला देने के पश्चात् दण्ड को फिर

१. उपसंहरति धर्मादीनामिति ।

२. ननु ज्ञानेनातीतानागतधर्माधर्मकर्मसञ्चयविनाशवत् वर्त्तमानधर्माधर्मक्षयः
कुतो न, येन ज्ञानानन्तरं शरीरपातेऽप्ययं एव भवेत्कथं धृतशरीरस्तेत्याशयेना-
क्षिप्य समाधत्तं-ज्ञानादित्यादिना । क्षणान्तरे-प्रारब्धभोगानन्तरम्, अत एवाहुः
'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिगतिरपीति' ।

हटा लेन पर भी वेनाख्यसंस्कारवश चक्र कुछ काल तक वैसे ही पहले की तरह घूमता रहता है ॥ ६७ ॥

प्रश्न—यदि कुछ अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों के संस्कार से श्री ज्ञानी पुरुष को शरीर धारण हो करना पड़ता है तब फिर उस पुरुष का मोक्ष कब होता है ?

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभय कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

गी०—म विविशिष्टो भवनीत्युच्यते—धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानस्य निवृत्तौ ऐकान्तिकमवश्यमात्यन्तिकमनर्तहित कैवल्य कैवल्यभावा मोक्षम्, उभयगैकान्तिकात्यन्तिकमित्येव विशिष्ट कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

अ वय — शरीरभेदे प्राप्ते (सति) चरितार्थत्वात्, प्रधानविनिवृत्तौ, (सत्याम्) ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम्, उभयम् कैवल्यम् (पुरुष) आप्नोति ।

व्याख्या—शरीरभेदे=स्थूलसूक्ष्मोभयविधशरीरस्य, भेदे=वियोगे । अर्थात् प्रारब्धकर्मणा भोगन परिममाप्तौ सत्या पूर्वोक्त उभयविधशरीरस्य वियोगे इत्यर्थः । प्राप्ते । (मति) चरितापत्वात्—चरितौ=सपादितौ अर्थो=भोगापवर्गौ यथा सा चरितार्था, तत्त्वात् । प्रधानविनिवृत्तौ=प्रकृतिवियोगे सति । (पुरुष) ऐकान्तिकम्=आवश्यकम् । आत्यन्तिकम्=अविनाशि । उभयम्=जीव मुक्तिपरममुक्तिद्वयम् । कैवल्यम्=मोक्षम् । आप्नोति=प्राप्नोति ॥ ६८ ॥

हिन्दी—प्रारब्धकर्मों की भोग से समाप्ति हो जाने पर स्थूल और सूक्ष्म ये दोनो प्रकार के शरीर समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् जिन कर्मों के फलों का उपभोग अभी तक शुरू ही न हुआ है उन संचित कर्मों के फलों के उत्पादन की शक्ति तो तत्त्वज्ञान के द्वारा ही नष्ट हो चुकी है और जिन कर्मों (प्रारब्धकर्मों) के

१ ननु यद्युत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि निष्ठति कदा तर्हि मोक्ष यच्छति तत्राह—प्राप्त इति अपे ।

२ भोगेन प्रारब्धक्षणन शरीरस्य विनाशे प्राप्ते, चरितार्थत्वात् बुद्धि-तत्त्वादिद्वारा कृतभोगापवर्गनक्षणप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य पुरुष प्रति विनिवृत्तौ सयोगाभावलक्षणलयेऽवश्यभावि पुनरुं स्वजातीयानुत्पत्तिविशिष्ट चोभयविध कैवल्य मोक्ष प्राप्नोति पुरुष इत्यर्थः ।

फलों का उपभोग शुरू हो गया है वे कर्म भोग के द्वारा ही समाप्त हो चुके हैं । इसके बाद भोग के न रहने से दोनों प्रकार के शरीर भी समाप्त हो जाते हैं, और तब प्रकृति अपने को चरितार्थ (कृतकृत्य) भी समझने लगती है कि मैंने पुरुष के भोगापवर्गरूप अर्थ को सम्पन्न कर दिया है अब मुझे कुछ कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह गया है, ऐसा सोच-विचार कर प्रकृति भी उस पुरुष से सर्वदा के लिये अलग हो जाती है और तब अकेला पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक-रूप से जीवन्मुक्ति और परममुक्ति दोनों प्रकार की मुक्तियों को प्राप्त कर लेता है ॥ ६८ ॥

प्रश्न—अब प्रश्न यह होता है कि इस सांख्य कथित अर्थज्ञान में श्रद्धा कैसे हो ?

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमपिणा समाख्यातम् ।

स्थित्युत्पत्तिप्रलयादिचिन्त्यन्ते तत्र भूतानाम् ॥६९॥

एतद् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।

आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।

संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

सप्तत्यां किल येष्यांस्तेष्याः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।

आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

इति सांख्यकारिका समाप्ता ।

गौ०—'पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थज्ञानमिदं गुह्यं' रहस्यं परमपिणा श्रीकपिलपिणा समाख्यातं सम्यमुक्तम् । यत्र ज्ञाने^१ भूतानां वैकारिकाणां स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थानाविर्भावतिरोभावादिचिन्त्यन्ते विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते^२ संवित्तिरिति ॥६९-७२॥

सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि ।

यज्ञताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥

इति सांख्यकारिकाव्याख्या समाप्ता ।

१. प्रेक्षावद्विज्ञासार्थं परमपिपूर्वकत्वमस्य शास्त्रस्याह—पुरुषार्थ इति ।

२. यज्ज्ञानार्थम्. यथा 'वर्मणि द्वीपिनं हन्ती'ति मिथ्याः ।

३. अनुभवः प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारात्मकः ।

अन्वय — इदम्, गुह्यम्, पुरुषार्थज्ञानम्, परमपिणा, समाख्यातम्, यत्र, भूतानाम्, स्थित्युत्पत्तिप्रत्यया, चिन्त्यन्ते ॥ ६९ ॥

व्याख्या—इदम्=साख्यशास्त्रनिरूपितम् । गुह्यम्=गोपनीयम्, दुर्ज्ञेयमित्यर्थः । पुरुषार्थज्ञानम्=पुरुषस्य भोगापवर्गात्मक-अर्थज्ञानम् । परमपिणा=सहपिणा कपिलेन । समाख्यातम्=कथितम् । यत्र=यस्मिन् साख्यशास्त्रे । भूतानाम्=भूतैः उपलक्षणम्, महत्तत्त्वमारभ्य पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतपर्यन्तानाम् । स्थित्युत्पत्तिप्रत्यया, चिन्त्यन्ते=विचार्यन्ते ॥ ६९ ॥

हिन्दी—गुह्य साख्यशास्त्र के अन्दर प्रतिपादित होने के नाते ही यह पुरुष का भोगापवर्गैरूप अर्थविषयक ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है । इसका एकमात्र निरूपण महामुनि कपिल ने ही किया है । और इसी ज्ञान के प्रकरण में पृथिवी आदि पाँच महाभूतों की तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय वगैरह का भी विचार किया गया है ॥ ६९ ॥

प्रश्न—हम महर्षि कपिल के कथन में तो अट्ठा करते हैं, परन्तु ईश्वर कृष्ण के कथन में कैसे श्रद्धा करें ?

अन्वय — मुनि, अनुकम्पया, अग्रय, पवित्रम्, एतत्, आमुर्ये, प्रददौ, आमुरिरपि, पञ्चशिखाय, तेन, च, तन्त्रम्, बहुधा, कृतम् ॥ ७० ॥

व्याख्या—मुनि = महामुनि कपिल । अनुकम्पया = कृपया । अग्रय = सर्वोत्तमम् । पवित्रम् । एतत् = साख्यशास्त्रज-य ज्ञानम् । आमुर्ये = आमुरिनाम-काय स्वशिष्याय । प्रददौ = प्रदत्तवान् । आमुरिरपि । पञ्चशिखाय = पञ्चशिल-नामकाय स्वशिष्याय । (अनुकम्पया । प्रददौ) तेन च = पञ्चशिखाचार्येण च । तन्त्रम् = साख्यशास्त्रीय ज्ञानम् । बहुधा—बहुरूपेण बहुभिः ग्रन्थैः—अथवा बहुषु शिष्येषु । कृतम् = विस्तारितम् ॥ ७० ॥

हिन्दी—महामुनि महर्षि कपिल ने सर्वोत्तम तथा परमपवित्र इस साख्य-शास्त्रीय ज्ञान को बहुत ही कृपा करके आमुरि नामक अपने शिष्य को दिया, और आमुरि ने अपने प्रधान एवं परमप्रिय शिष्य पञ्चशिल को प्रदान किया । और पञ्चशिल ने बहुत से ग्रन्थों के आधार पर बहुत से शिष्यों के द्वारा इसका काफी प्रचार-विस्तार करवाया ॥ ७० ॥

प्रश्न—तब फिर ईश्वर कृष्ण को यह कैसे प्राप्त हुआ ?

अन्वय — शिष्यपरम्परया, आगतम्, एतत्, आर्यमनिना, ईश्वरकृष्णेन, सिद्धातम्, सम्पक्, विज्ञाय, आर्याभि, सक्षितम् ।

व्याख्या—शिष्यपरम्परा । आगतम् = प्राप्तम् । एतत् = सांख्यशास्त्रसिद्धान्तम् । आर्यमतिना = विबुद्धमतिना । ईश्वरकृष्णेन । सिद्धान्तम् = सांख्यसिद्धान्तम् । सम्यक् = यथार्थरूपेण । विज्ञाय । आर्याभिः = आर्यछन्दोबद्धकारिकाभिः । संक्षिप्तम् = संक्षेपेण लिखितम् ॥ ७१ ॥

हिन्दी—विबुद्ध बुद्धि वाले ईश्वरकृष्ण ने पञ्चशिखाचार्य की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा से प्राप्त इस सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त को अच्छी प्रकार यथार्थरूप से जानकर आर्याछन्द में संबद्ध कारिकाओं के द्वारा संक्षेप में लिखा है ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सप्तत्याम्, आख्यायिकाविरहिताः, परवादविजिताः च अपि, ये, अर्याः, (सन्ति) ते, कृत्स्नस्य, षष्टितन्त्रस्य, किल, (सन्ति) ॥ ७२ ॥

व्याख्या—सप्तत्याम् = सप्ततिकाविति अस्मिन् ग्रन्थे । आख्यायिकाविरहिताः = कथा (कहानी) शून्याः । परवादविजिताः = परेषां-दर्शनान्तराणाम् (ये) वादाः-खण्डनानि, तैः विवजिताः रहिता इत्यर्थः । च । अपि । ये । अर्याः = पञ्चविंशतिपदार्थस्वरूपा विषयाः । (सन्ति) ते = अर्याः । कृत्स्नस्य = समस्तस्य । षष्टितन्त्रस्य = षष्टितन्त्रनामकग्रन्थस्य । किल = निश्चयेन । सन्ति ।

हिन्दी—इन आर्याछन्द से सम्बद्ध सत्तर (७०) कारिकाओं के अन्दर कथाकहानी आदि से शून्य तथा दर्शनान्तरसम्बन्धि मत-मतान्तरों के खण्डन से शून्य जिन पचीस पूर्वोक्त पदार्थों का ईश्वरकृष्ण ने निरूपण किया है वे सब पदार्थ षष्टितन्त्रस्वरूप सांख्यदर्शन के हैं ॥ ७२ ॥

भाष्यभाववर्णिनी संस्कृत-हिन्दी टीका सहित

सांख्यकारिका समाप्त ।

मया ज्वालाप्रसादेन न्यायाचार्येण धीमता ।

यद् गुरुचरणायाप्तं तद् गुरुचरणेऽर्पितम् ॥